॥ ओ३म् ॥

विदुर-प्रजागर

अथवा

विदुर-नीति

संकलयिता व अनुवादक

वे० शा० स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

सम्पादक

विद्याभास्कर पं० उदयवीर शास्त्री, विद्यावाचस्पति

॥ ओ३म् ॥

विदुर-प्रजागर

अथवा

विदुर-नीति

अनुवादक तथा व्याख्याता

वे० शा० स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

प्रकाशक—

श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती,
अध्यक्ष—विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद, (मेरठ) उ० प्र०,

सम्पादक—

श्री पं० उदयवीर शास्त्री

द्वितीय संस्करण—

मूल्य रु० २.५० पै०
श्रावण, संवत् २०३० विक्रमी,
अगस्त, सन् १६७३ ईसवी,

मुद्रक—

शर्मा प्रिन्टिंग वर्क्स,
४।६० सरवरिया मार्केट, विश्वासनगर,
शाहदरा, दिल्ली-३२,

विदुर-वाणी

इन दो को जल में डुबो दो

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ।।

अर्थ—जो धनी होकर दानी न हो, और दरिद्र होकर तपस्वी-कष्टसहिष्णु न हो, ऐसे दोनों पुरुषों के गले में भारी पत्थर बाँध कर जल में डूबो देना चाहिये ।

ओ३म्

सम्पादकीय निवेदन

छोटे या बड़े राष्ट्रों की सुविधापूर्वक प्रशासन-संचालन पद्धति को 'नीति' अथवा 'राजनीति' कहा जाता है। अति प्राचीन काल से प्रजाओं के प्रशासन के लिये राजनीति-सिद्धान्तों का उपयोग होता रहा है; जिससे मानव-समाज विना किसी वाधा के सुख-सुविधापूर्वक अपना जीवनकाल संपन्न कर सके।

भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों में छह अङ्ग और चार उपायों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। राजनीति के छह अङ्ग हैं— सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव। इनको नीति के 'छह गुण' भी कहा जाता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में इनके विवरण के लिये 'षाड्गुण्य' नामक एक लम्बा प्रकरण है। इन अङ्गों या गुणों का यथा-यथ प्रयोग करने के लिये जिन चार प्रकार के साधनों का उपयोग किया जाता है; वे चार 'उपाय' हैं—साम, दान, दण्ड, भेद।

भारतीय वाङ्मय में राजनीति के अनेक ग्रन्थ अब भी उपलब्ध हैं; जबकि इस विषय का विशाल साहित्य काल का ग्रास बन चुका है। उपलब्ध ग्रन्थों में उनमें से किन्हीं का नाममात्र अवशेष मिलता है। इस समय व्यवस्थित शास्त्र के रूप में प्राचीन ग्रन्थ कौटल्य का राजनीति शास्त्र है, जो 'कौटलीय अर्थशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में राजनीतिशास्त्र के रचयिता लगभग दस-बारह प्राचीन आचार्यों के

नामों का उल्लेख मिलता है। उनके राजनीतिक विचारों की आलोचना भी स्थान-स्थान पर ग्रन्थकार ने प्रस्तुत की है। संभव है, ऐसी आलोचनाओं का आधार विभिन्न कालों में अपेक्षित नीति भेद का होना रहा हो; अथवा नीति में सैद्धान्तिक भेद का होना भी संभव है। इससे प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राजनीतिविषयक विशाल साहित्य का होना प्रमाणित होता है। यह नितान्त स्वाभाविक है, कि कौटल्य के अर्थशास्त्र में सभी प्राचीन नीति-आचार्यों को स्मरण नहीं किया गया, कुछ ही व्यक्तियों का उल्लेख है। जिनमें कुछ नाम इस प्रकार हैं—

नारद (पिशुन), भीष्म (कौणपदन्त), उद्धव (वातव्याधि), इन्द्र (वाहुदन्तीपुत्र), द्रोणाचार्य, (भारद्वाज), विशालाक्ष, खरपट्ट (अथवा खरपट), दीर्घ चारायण, घोटमुख, कणिङ्क [भरद्वाज-वंशोद्भव]।

नारद से लेकर द्रोणाचार्य तक नामों के आगे जो कोष्ठ में नाम दिये गये हैं; कौटलीय अर्थशास्त्र में उन्हीं नामों का प्रयोग हुआ है। व्याख्याकारों ने उनके इतिहास-प्रसिद्ध नामों का उल्लेख कर दिया है, उसके अनुसार यहां 'नारद' आदि नामों का निर्देश है।

'खरपट्ट' का प्रयोग अर्थशास्त्र [४।८।२६] में 'चौर्यशास्त्र' के लिये हुआ है, जो रचयिता के नाम से प्रसिद्ध था। फलतः यह नीतिशास्त्र का आचार्य न होकर चौर्यशास्त्र का प्रणेता होने से उसी विषय का विशेषज्ञ होना संभव है। भास के चारुदत्त नाटक [अङ्क ३, श्लोक १० के आगे] में—जब चारुदत्त चोरी के लिये कूमिल लगाने लगा है, तब मांगलिक रूप से तथा कार्य की निर्विघ्न संपन्नता की भावना से—वह चौर्यशास्त्र के प्रणेता को इन शब्दों में नमस्कारपूर्वक याद करता है— 'नमः खरपटाय'। इस आधार पर यहां नाम-सूची में 'खरपट' पाठान्तर दे दिया है।

कौरव-पाण्डवकाल में मगध देश का 'दीर्घ' नामक एक राजा था। संभव है, वह नीतिशास्त्र में निपुण रहा हो। जिस घटना को लेकर

कौटलीय अर्थशास्त्र में उसका उल्लेख हुआ है, उससे उसके चातुर्य का पता लगता है। संभव है, यह अपने जीवन में किसी बड़े सम्राट् के दरबार में सामन्त रूप से सलाहकार रहा हो। सम्राट् की प्रतिकूलता को संकेत से समझकर बड़ी चतुराई के साथ वहां से अछूता निकल आया था। अन्त में पाण्डु के द्वारा राजगृह में वह मारा गया।

ऊपर दी गई सूची में अन्तिम नाम 'कणिङ्क' है। भरद्वाज वंश में उत्पन्न होने से अर्थशास्त्र में इसके साथ 'भारद्वाज' विशेषण दिया है। महाभारत में भरद्वाज गोत्र के कणिक नामक एक राजनीतिज्ञ का वर्णन उपलब्ध होता है। यह धृतराष्ट्र के मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य था। उपयुक्त अवसर पर धृतराष्ट्र को इसने राजनीति का उपदेश किया है, जिसका महाभारत में उल्लेख है। संभव है, महाभारत के कणिक को अर्थशास्त्र में 'कणिङ्क' नाम से स्मरण किया गया हो। नाम में इतना भेद कदाचित् लिपिदोष से कभी अन्तर्निविष्ट हो सकता है।

नीतिशास्त्र-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत-सा ऐसा साहित्य है, जो महाभारत आदि ग्रन्थों में विकीर्ण है। **'विरजानन्द वैदिक संस्थान'** के संस्थापक श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी महाराज के मस्तिष्क में लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व भारत-प्रशासन के संक्रान्तिकाल में विचार आया, कि यह उपयुक्त समय है, जब भारतीय राजनीति के साधारण सिद्धान्तों को प्रकाश में लाया जाय, जिससे सर्वसाधारण जनता इस अवसर पर उपयुक्त लाभ उठा सके।

महाभारत के विभिन्न प्रसंगों में अनेक राजनीतिविशारदों द्वारा विशिष्ट प्रशासक व्यक्तियों के सन्मुख पथप्रदर्शन के रूप में उपदिष्ट नीतिविषयक सिद्धान्तों का विवरण उपलब्ध होता है। श्री स्वामीजी महाराज ने उन सब प्रसंगों को लघु पुस्तिकाओं के रूप में हिन्दी रूपान्तर सहित प्रकाशित करने का संकल्प किया। उसमें **नारद-नीति, कणिक-नीति, विदुर-नीति, उद्धव-नीति, भीष्म-नीति, द्रोण-नीति** आदि

का समावेश था। उनका यह भी संकल्प था, कि इन रचनाओं के प्रकाशित हो जाने पर भारतीय राजनीति सिद्धान्तों पर ऊहापोहपूर्वक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जाय। परन्तु कुछ कार्य सम्पन्न हो जाने पर अचानक उस समय श्री स्वामीजी महाराज का देहावसान हो जाने से वह कार्य पूरा न हो सका। उसमें केवल तीन रचना प्रकाशित हो सकीं। **नारद-नीति, कणिक--नीति और विदुर-नीति।**

नारद-नीति और कणिक-नीति का दुवारा प्रकाशन अभी गत महीनों में संस्थान द्वारा कर दिया गया है। यह तीसरा ग्रन्थ 'विदुर-प्रजागर' नाम से दुवारा प्रकाशित किया जा रहा है। साधारण जनता में यह रचना 'विदुर-नीति' नाम से प्रसिद्ध है। यह उपदेश विदुर द्वारा महाराजा धृतराष्ट्र के प्रति उसकी इच्छा के अनुसार दिया गया है।

इसमें उपदिष्ट सिद्धान्तों की उपयोगिता व महत्ता का परिचय इस बात से और अधिक होता है, कि महर्षि दयानन्द ने राजस्थान के अनेक राजा-महाराजाओं को यह ग्रन्थ उनके प्रशासन और दैनिक जीवनचर्या में सुधार के लिये पढ़ाया था। उदयपुर के महाराणा तक को यह ग्रन्थ पढ़ाने और उनकी दिनचर्या में सुधार का उल्लेख श्रीस्वामी जी महाराज ने अपने अन्य शिष्यों व भक्त राजाओं को लिखे गये पत्रों में किया है। इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के तृतीय-समुल्लास में पठन-पाठन के लिये प्रस्तुत कीगई ग्रन्थ-सूची के प्रसंग से लिखा है—"तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता सभ्यता प्राप्त हो वैसे को काव्यरीति से···अध्यापक लोग जनावें और विद्यार्थी लोग जानते जायें।" निश्चित ही विदुरनीति में प्रतिपादित सिद्धान्त राजा और प्रजाजन दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन सिद्धान्तों पर आचरण कर अपने जीवन में सव प्रकार के अभ्युदय को प्राप्त कर सकता है।

संस्थान के अध्यक्ष श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज तथा मन्त्री श्री सत्यानन्द शास्त्री, एम्. ए. एवं अन्य ट्रस्टियों का संकल्प है, कि श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी महाराज का प्रकाशित-अप्रकाशित साहित्य-जो अब अनुपलब्ध है, प्रयत्नपूर्वक खोजकर-प्रकाशित कराया जाय। उसी संकल्प के अनुसार प्रस्तुत रचना का प्रकाशन है। विचारशील पाठक इससे उपयुक्त लाभ उठा सकेंगे।

सम्पादक,
उदयवीर शास्त्री.

श्रावण, कृष्ण सप्तमी,
रविवार, सं० २०३० वि०।
ता० २२।७।१९७३ ई०

॥ ओ३म् ॥

विदुर-प्रजागर

विदुरनीति १

वैशम्पायन उवाच—

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहाऽनय मा चिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोला—महाबुद्धिमान राजा धृतराष्ट्र ने द्वारपाल को कहा, मैं विदुर को देखना [मिलना] चाहता हूं, उसे शीघ्र यहाँ ले आओ ।

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ ! दिदृक्षति ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र के भेजे हुए दूत ने क्षत्ता [विदुर] को कहा —हे महाप्राज्ञ ! आपको महाराजाधिराज देखना [मिलना] चाहते हैं ।

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद्धृतराष्ट्राय द्वाःस्थं मां प्रति वेदय ॥ ३ ॥

ऐसा कहा जाकर [सुनकर] राजभवन पहुँचकर विदुर ने द्वारपाल से कहा—'धृतराष्ट्र को मेरे आने की सूचना दे दो ।'

द्वाःस्थ उवाच—

विदुरोऽयमनप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥ ४ ॥

द्वारपाल महाराज धृतराष्ट्र के सामने जाकर बोला—हे राजेन्द्र ! यह विदुर आपके आदेश से आकर आपके चरणों का दर्शन करना चाहते हैं, मुझे आज्ञा कीजिए-वे क्या करें ?

धृतराष्ट्र उवाच—

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाऽकल्पो जातु दर्शने ।।५।।

धृतराष्ट्र ने कहा—दीर्घदर्शी महाप्राज्ञ विदुर को भीतर ले आओ । क्योंकि मैं इस विदुर को देखने (उससे मिलने) में कभी अकल्प (असमर्थ) नहीं हूं।

[राजा आदि बड़े मनुष्यों को मिलने के लिए कई नियम बने हुए होते हैं, उन्हें 'कल्प' कहते हैं। धृतराष्ट्र कहता है कि विदुर से मिलने के लिए उन नियमों का प्रतिबन्ध नहीं है। किसी पुस्तक में 'नाकल्पः' के स्थान में 'नाकाल्यः' पाठ है। उसका अर्थ है—'समयाभाव वाला नहीं हूँ।']

द्वाःस्थ उवाच—

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाऽब्रवीद्धि माम् ।। ६ ।।

द्वारपाल ने कहा—हे क्षत्तः (विदुर) ! बुद्धिमान् महाराज के अन्तःपुर के भीतर जाओ । राजा ने मुझे कहा है—वह आप से मिलने में कभी अकल्प (असमर्थ) नहीं हैं। अथवा अकाल्य नहीं हैं, अर्थात् आप महाराज से सदा मिल सकते हैं।

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ।। ७ ।।

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—इसके पश्चात् धृतराष्ट्र के भवन में प्रवेश करके हाथ जोड़कर विदुर ने चिन्तामग्न राजा को [अगला] वाक्य कहा। हे महाप्राज्ञ ! आपके आदेश से मैं विदुर आ गया हूं। यदि कोई मेरे योग्य कार्य है, तो मुझे आज्ञा कीजिए, मैं उपस्थित हूं।

धृतराष्ट्र उवाच—

सञ्जयो विदुर ! प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥ ९ ॥

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत्प्रजागरम् ॥ १० ॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः सञ्जयः पांडवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः ।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! संजय आ गया है, और मेरी ही निन्दा करके मुझे बुरा भला कह करके चला गया है। कल सभा के बीच में अजातशत्रु (युधिष्ठिर) की बात बताएगा। उस कुरुवीर (युधिष्ठिर) की बात आज मैं न जान सका। यह बात [युधिष्ठिर का सन्देश आज न जान सकना] मेरे अंगों को जला रही है और उसी ने मुझे प्रजागर (उन्निद्र=उनीदा)

कर दिया है। जागते हुए तथा [चिन्ता से] जलते हुए मेरे लिये जो कल्याण समझो, वह मुझे बताओ। क्योंकि हे तात ! हम सब के बीच तुम धर्म और अर्थ (राजनीति) में कुशल हो। जब से संजय पाण्डवों के पास से आया है, तब से मेरे मन को शान्ति नहीं है। मेरी सब इन्द्रियाँ विकृत (बेचैन) हो गई हैं, वह (कल सभा में) क्या कहेगा, यह बड़ी भारी चिन्ता आज मुझे है।'

[युधिष्ठिर का नाम अजातशत्रु है। 'न उत्पन्न हुआ शत्रु जिसका' अथवा जो किसी का शत्रु नहीं बना' वह अजातशत्रु है। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है, युधिष्ठिर यथासंभव किसी से वैरभाव नहीं रखता था। नवम श्लोक में धृतराष्ट्र के मुख से कहलाया गया है, कि संजय ने उसकी गर्हा— निन्दा की है, भला बुरा कहा है। विदुरनीति— महाभारत उद्योग पर्व के तेतीसवें अध्याय से प्रारम्भ होती है। उससे पूर्व के अध्याय में संजय का युधिष्ठिर आदि से मिल कर वापस आना उल्लिखित हुआ है। उसने आकर युधिष्ठिर की प्रशंसा करके धृतराष्ट्र से कहा—

इमं च दृष्ट्वा तव कर्मदोषं पापोदर्कं घोरमवर्णरूपम् ॥ १४ ॥ हन्तात्मनः कर्म्म निबोध राजन् धर्मार्थयुक्तादार्य्यवृत्तादपेतम्। उपक्रोशं चेह गतोसि राजन् भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र ॥ १६ ॥ स त्वमर्थं संशयितं विना तैराशंससे पुत्र वशानुगोऽस्य। अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां नेदं कर्म्म त्वत्समं भारताग्र्य ॥ १७ ॥ हीनप्रज्ञो दौष्कुलेयो नृशंसो दीर्घ वैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः। एवंधर्म्मानापदः संश्रयेयुर्हीनवीर्य्यो यश्च भवेदशिष्टः ॥ १८ ॥ कुले जातो बलवान् यो यशस्वी बहुश्रुतः सुखजीवी यतात्मा। धर्म्माधर्म्मौ ग्रथितौ यो बिभर्ति सत्यस्य दिष्टस्य वशादुपैति ॥१९॥ कथं हि मन्त्राग्र्यधरो मनीषी धर्म्मार्थयोरापदि सम्प्रणेता। एवमुक्तः सर्वमन्त्रैरहीनो नरो नृशंसं कर्म्म कुर्य्यादमूढः ॥२०॥ तव ह्यमी मन्त्रविदः समेत्य समासते कर्म्मसु नित्ययुक्ताः। तेषामयं बलवान्निश्चयश्च कुरुक्षये नियमेनोदपादि ॥२१। अकालिकं कुरवो नाभविष्यन् पापे न चेत्पापमजातशत्रुः। इच्छेज्जातु त्वयि

पापं विसृज्य निन्दा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ॥ २२ ॥ स त्वां गर्हे भारतानां विरोधादन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम् । नो चेदिदं तव कर्म्मापराधात् कुरून्दहेत्कृष्णवर्त्मेव कक्षम् ॥ २८ ॥ त्वमेवैको जातु पुत्रस्य राजन् वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र । कामात्मनः श्लाघनो द्यूतकाले नागाः शमं पश्य विपाकमस्य ॥ २९ ॥ अनाप्तानां संग्रहात्त्वं नरेन्द्र तथाऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन् । भूमिं स्फीतां दुर्बलत्त्वादनन्तामशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय ॥ ३० ॥ (महा० उद्योग० संजययान पर्व)

हन्त ! हे राजन् । पाप परिणाम वाले घोर अवर्णनीय अपने इस कार्य को देखकर धर्म्मार्थयुक्त आर्य्यचरित से गिरे हुए अपने कर्म को समझो । हे राजन् ! इस लोक में तो आप निन्दा को प्राप्त हुए ही हैं । परलोक में भी पाप आपको चिमटेगा । आप पुत्र के वशगामी होकर उन (पाण्डवों) के विना सन्दिग्ध प्रयोजन की [सिद्धि की] आशा कर रहे हैं, इससे संसार में आपका वड़ा अधर्म्म—निन्दामय कीर्ति चर्चा हो रही है । हे भारतश्रेष्ठ ! यह कर्म्म आपके अनुरूप नहीं है । बुद्धि रहित दुष्कुलीन, घातक, दीर्घवैरी, और क्षत्रविद्या में अधीर तथा जो दुर्बल होकर अशिष्ट भी हो, ऐसे स्वभाव वालों को आपत्तियां अपना ठिकाना वनाती हैं । किन्तु जो उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है तथा जो बलवान् यशस्वी, बहुश्रुत, सुखजीवी और जितेन्द्रिय है और जो धर्म्म तथा अधर्म्म को व्यवस्था से धारण करता है वह इस भाग्य की अनुकूलता से सम्पत्ति को प्राप्त करता है । मन्त्रज्ञ श्रेष्ठ [भीष्म आदि] के साथी, स्वयं बुद्धिमान् आपत्ति में भी धर्म्म और अर्थ के संचालक, इस प्रकार के सब साधनों से सम्पन्न आप जैसा अमूढ मनुष्य ऐसे नृशंस कर्म्म को कैसे कर सका ? आपके ये नित्यकर्म्म-परायण मन्त्री सदा जो मिलकर बैठते हैं । इनके इस प्रबल निश्चय [कि हम पाण्डवों को उनका न्याय भाग भी न देंगे] ने अवश्य ही कुरुओं के नाश को उत्पन्न किया है । यदि इस पाप के कारण कुरु असमय में नष्ट हो गए, युधिष्ठिर इसका पाप आप पर डालना चाह रहा

है। यदि उसने यह पाप आप पर डाल दिया तो आपकी संसार में यह निन्दा होगी ही। अतः मैं आपकी निन्दा करता हूं कि निश्चय ही भरतों के पारस्परिक विरोध से प्रजाओं का नाश होगा। नहीं तो जिस प्रकार आग तिनकों को जला देती है, वैसे ही यह, तेरे कार्य दोष से कुरुओं को जला देगा। हे राजन्! हे नरेन्द्र! आपने ही अकेले सकल संसार में पुत्र के अधीन होकर इस कामी पुत्र का प्रशंसक बनकर, जुए के समय शान्ति न की, अब उसका फल देखो। हे राजन्! अनाप्तों [दुष्टों] के निग्रह से और आप्तों के निग्रह से [दण्ड से], हे कौरव राजन्! दुर्बल होने से आप इस विस्तृत अनन्त भूमि [राज्य] की रक्षा करने में असमर्थ हो।

संजय द्वारा की गई यह गर्हा [निन्दा] है जिसकी ओर धृतराष्ट्र संकेत कर रहा है।

विदुर उवाच—

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः॥ १३॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिन्न परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे॥ १४॥

विदुर ने कहा—हे भूपेन्द्र! बलवान् से दबाए हुए, साधन रहित, दुर्बल, जिसका धन नष्ट हो गया ऐसे, कामी, तथा चोर को उन्निद्रता घेरती है। कहीं ये दोष तो आपको नहीं लग गये। कहीं पराये धनों के लालच से तो सन्तप्त नहीं होते हो।

[विदुर ने उन्निद्रा के सब शिकारों को नहीं गिनाया]

धृतराष्ट्र उवाच—

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः॥ १५॥

मैं तुम्हारे धर्म्मयुक्त परम कल्याण कारक [मोक्षदायक] वचन को सुनना चाहता हूं। सचमुच इस राजर्षिवंश [कुरुवंश] में तुम ही अकेले बुद्धिमानों के माननीय हो।

[जागरण=उन्निद्रता के जो कारण विदुर ने बताए हैं, उनके सम्बन्ध में धृतराष्ट्र का कुछ न कह कर विषयान्तर में प्रश्न करना धृतराष्ट्र की तात्कालिक उद्विग्न मानसिक दशा का द्योतक है।]

युधिष्ठिर के प्रति न्याय करने की प्रेरणा

विदुर उवाच—

"राजलक्षणसम्पन्नस्त्रैलोकस्याधिपो भवेत्।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः॥ १॥
विपरीततरश्च त्वं भागधेये न सम्मतः।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः॥ २॥
आनृशंस्यादनुक्रोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात्।
गुरुत्वात्त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते॥ ३॥
दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि॥ ४॥

विदुर ने कहा—सब उत्तम लक्षणों से सम्पन्न आपका सेवक राजा युधिष्ठिर त्रिलोकी का अधिपति हो सकता है किन्तु आपने, हे धृतराष्ट्र! उसे वन में भेज दिया है। धर्म्मात्मा तथा धर्म्मज्ञ होकर भी आप अत्यन्त विपरीत चल रहे हैं। आंखों के अभाव के साथ भाग्य भी आप से सहमत नहीं है। उदारता, दया, धर्म्म, सत्य, पराक्रम और आपके प्रति गुरुबुद्धि के कारण तथा आपको देख कर [अर्थात् आपका लिहाज करके] राजा युधिष्ठिर अनेक क्लेशों को सहन कर रहा है। दुर्योधन, सौबल [सुबल का पुत्र शकुनि]

कर्ण तथा दुःशासन आदि पर राज्य भार डाल कर आप कैसे कल्याण की कामना करते हो ?

[महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ के मत से ये श्लोक मूल महाभारत के नहीं हैं । उसका कथन है—'क्वचित्पुस्तकान्तरे स्थितस्य मूलस्य व्याख्या ।']

अर्थात्—किसी दूसरी पुस्तक में लिखे श्लोकों की व्याख्या । धृतराष्ट्र के प्रश्न को देखते हुए ये श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं । इसीलिए महाभारत की मुद्रित प्रतियों में इनकी संख्या पृथक् दे रखी है ।]

पण्डित के लक्षण

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

आत्मा का ज्ञान (अपने सामर्थ्य का ज्ञान) उद्वेग से आरम्भ, तितिक्षा, धर्म्मतत्परता [जिसमें हों] तथा अर्थ (धन का लोभ) जिसको गिरा न सकें, वह पण्डित कहाता है ।

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधानः एतत्पण्डितलक्षणम् ॥ १६ ॥

जो उत्तम कर्मों का सेवन करता है और निन्दित कर्म्मों का सेवन नहीं करता है, जो नास्तिक नहीं है प्रत्युत श्रद्धालु है । यह पण्डित का लक्षण है ।

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तम्भो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १७ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १८ ॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ १९ ॥
यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

क्रोध, हर्ष, घमण्ड, लज्जा, स्तम्भ=समय पर न सूझना, मान्य-मानिता=मनमानी करने की प्रवृत्ति जिसको प्रयोजन से परे नहीं खींच ले जाते, वह पण्डित कहाता है। जिसके कृत्य=भावी कार्य्यक्रम को तथा गुप्त रूप से विचारी मन्त्रणा को शत्रु नहीं जान पाते, प्रत्युत इसके किये को ही जानते हैं, वह पण्डित कहाता है। शीत, उष्ण, भय, प्रीति, समृद्धि, असमृद्धि जिसके कार्यक्रम में विघ्न नहीं हो पाते, वही पण्डित कहाता है। जिसकी संसारिणी बुद्धि धर्म्म और अर्थ का अनुवर्तन करती है और जो काम=विषय वासना का त्याग करके अर्थ=धन अथवा प्रयोजन का वरण करता है, वही पण्डित कहाता है।

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किंचिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २१ ॥

पण्डित बुद्धि नर=यथाशक्ति करना चाहते हैं और यथाशक्ति ही करते हैं, और किसी भी वस्तु की अवज्ञा=उपेक्षा नहीं करते अर्थात् किसी को तुच्छ नहीं मानते।

क्षिप्रं विजानाति चिरम् शृणोति
विज्ञाय चार्थम् भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २२ ॥

जो शीघ्र समझ लेता है, देर तक ध्यानपूर्वक सब सुनता है। और

जानकर वासना रहित होकर अर्थ का सेवन करता है, और बिना पूछे पराये कार्य्य में उपयोग (हस्ताक्षेप) नहीं करता, यह पण्डित की प्रथम=मुख्य पहचान है।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३ ॥

पण्डित-बुद्धि नर, प्राप्त न हो सकने वाले पदार्थ की इच्छा नहीं करते, और न ही नष्ट पदार्थ के लिए शोक करना चाहते हैं, और न ही आपत्तियों में घबराते हैं।

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जो विचार कर (निश्चय कर) के आरम्भ करता है, और कार्य्यों के बीच में नहीं ठहरता (अर्थात् कार्य्य आरम्भ करके जो समाप्त किये बिना बीच में नहीं छोड़ता), जिसका समय कभी निष्फल= व्यर्थ नहीं जाता और जो जितेन्द्रिय है, वही पण्डित कहाता है।

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिताः भरतर्षभ ॥ २५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! पण्डित जन वे हैं, जो आर्य्य कर्मों में प्रसन्न होते हैं, ऐश्वर्य्यवाले कल्याणकारी कर्मों को करते हैं, हितकारी से ईर्ष्या नहीं करते।

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते।
गांगो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ २६ ॥
तत्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ २७ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ २८ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ २९ ॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ ३० ॥

अपने सम्मान में जो हर्ष नहीं करता, और अपने अपमान में दुःखी नहीं होता, गांग ह्रद=समुद्र की भाँति जो अक्षोभ्य है [जिसे भड़काया नहीं जा सकता] वही पण्डित कहाता है ॥ सब भूतों के तत्त्वों को जानने वाला, सब कर्म्मों की युक्ति को जानने वाला, तथा मनुष्यों के विविध उपायों को जानने वाला मनुष्य पण्डित कहाता है। जिसकी वाणी चलती है, जिसका कथन विचित्र है, जो ऊहा=सूझ वाला तथा प्रतिभाशाली न (हाजिरजवाब) है, और जो ग्रन्थ (के अभिप्राय) को शीघ्र कह सकता है, वही पण्डित कहाता है। जिसका श्रुत=अध्ययन, ज्ञान बुद्धि के अनुसार और जिसकी बुद्धि श्रुत=शास्त्र की अनुसारिणी है, जो आर्य्य मर्य्यादाओं का उल्लंघन न करने वाला हो, ऐसा मनुष्य पण्डित संज्ञा पाता है। जो महान् अर्थ (धन), विद्या अथवा ऐश्वर्य्य (राज्य, स्वामित्व) को प्राप्त करके भी निरभिमान होकर विचरता है, वही पण्डित कहाता है।

[अन्तिम ३० वां श्लोक यद्यपि वर्तमान पुस्तकों में ४० वां है तथापि प्रकरणसंगति के कारण हमने इसे यहाँ रखा है।]

मूढलक्षण

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३१ ॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्याऽऽचरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ।। ३२ ।।

अपठित होता हुआ भी अभिमानी, दरिद्र होता हुआ भी बड़े मनोरथों वाला, कर्म के बिना धनों की प्राप्ति के अभिलाषी मनुष्य को ज्ञानी जन मूढ कहते हैं। अपने कार्य्य को छोड़कर जो विरोधी के कार्य्य को करने लगता है, और जो मित्र के कार्य्य में मिथ्या व्यवहार करता है [मित्र के साथ कपट करता है] वह मूढ़ कहाता है।

अकामान्कामयति यः कामयानान्परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ।। ३३ ।।
अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ।। ३४ ।।

न चाहने योग्यों की जो चाहना करे, और चाहने योग्यों को जो त्यागे और जो बलवान् से द्वेष करे, उसे मूढचेता कहते हैं। जो शत्रु को मित्र करता (समझता) है और मित्र से द्वेष करता तथा घात करता है और दुष्ट कर्म का आरम्भ करता है, उसको मूढचेता कहते हैं।

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ।। ३५ ।।

जो अपने भावी कार्य्यों का सर्वत्र प्रसार करता है, और सर्वत्र सब के प्रति सन्देह करता है, शीघ्र करने योग्य कार्य्य में विलम्ब करता है, हे भरतश्रेष्ठ! वह मूढ है।

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ।। ३६ ।।

जो पितरों=माता, पिता, दादा, दादी आदि वृद्धों, अथवा नगर रक्षकों, देश रक्षकों को उनका भागधेय श्रद्धा पूर्वक नहीं देता है, और जो देवार्चन नहीं करता अर्थात् सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र आदि कर्म्म नहीं करता और जिसे स्नेही मित्र नहीं मिलता, उसे मूढ़चेता कहते हैं।

['पितृ'—शब्द का अर्थ माता-पिता आदि के अतिरिक्त साधु-सन्त, पुरोहित, गुरू, नगरपालिका के सदस्य तथा प्रदेशों एवं राष्ट्र की संविधान सभाओं के सदस्य भी होता है, दैवत का अर्थ देवता=देव है। देवार्चन का अर्थ परमात्म-पूजन एवं अग्निहोत्र आदि है। भगवान् एवं प्रकृति से लाभ उठाता हुआ जो उसका प्रतिकार नहीं करता, उसके मूढ़ होने में क्या सन्देह है?]

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ ३७॥

बुलाए विना जो दूसरे के घर में जाता है, पूछे विना जो बहुत बोलता है और अविश्वस्त पर जो विश्वास करता है, वह नराधम मूढ़-चेता है।

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः॥ ३८॥

स्वयं वैसा व्यवहार करता हुआ जो दूसरे पर उस दोष का आक्षेप करता है, और जो असमर्थ होता हुआ क्रोध करता है, वह मनुष्य मूढ़तम है।

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम्।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते॥ ३९॥

अपने बल को न जान कर तथा धर्म्म और अर्थ से रहित अर्थात्

छलद्वारा अलभ्य पदार्थ को निष्कर्मता=यत्न के बिना चाहने वाला मनुष्य इस जगत में मूढ़बुद्धि कहलाता है।

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४० ॥

जो अशिष्य=न सिखाने योग्य, अजिज्ञासु को शिक्षा देता है और जो राजा होकर दरिद्र की उपासना करता है और जो कंजूस अदाता का सेवन करता है, उसे मूढ़चेता कहते हैं।

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४१ ॥

जो भृत्यों=नौकरों, आश्रितों को बाँटे बिना, दिए बिना अकेला ही सम्पन्न=उत्तम पदार्थों को खाता है और जो अकेला ही सुन्दर वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर नृशंस=नरघातक कौन हो सकता है?

[किसी किसी पुस्तक में 'भृत्येभ्यः' के स्थान में 'भूतेभ्यः' पाठ है। उस दशा में अर्थ है—प्राणियों को बाँटे बिना। आर्य्य राजनीति का लक्ष्य है—मनुष्य के साथ सब प्राणियों को सुखी बनाना। अतः यथावसर मनुष्य के साथ अन्य प्राणियों का भी ध्यान रखा जाता है।]

संख्या द्वारा ज्ञान

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४२ ॥

एक पाप करता है, किन्तु फल महाजन भोगता है (अर्थात् उससे लाभ अनेक उठाते हैं)। उस पाप कर्म्म से होने वाले लाभ के भोक्ता तो छूट जाते हैं, किन्तु कर्त्ता=उस पाप का करने वाला दोष से लिप्त रहता है।

[विदुर, काकु से, धृतराष्ट्र को कह रहा है पाप आप कर रहे हो, इस पाप का फल भोगने वाले बहुत हैं। कर्ता होने के कारण आप पाप विपाक से बच न सकेंगे, जिनके लिए आप पाप कर रहे हैं, वे आपके पाप के विपाक से बचे रहेंगे। आपके इस पाप का फल कौरववंश का नाश, राज्यध्वंस आदि आपको भोगना पड़ेगा, जिन शकुनि-आदि के असत्परामर्श से आप यह कर रहे हैं,वे निर्लेप रहेंगे। विदुर का यहाँ उपदेश प्रसिद्ध कर्म्मफलसिद्धान्त से विरुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु तनिक संसार-व्यवहार पर दृष्टि डाली जाए,तो विदुर जी का कथन शत-प्रतिशत सत्य दीखता है। इसी प्रकार का महनीय उपदेश रत्नाकर दस्यु को सप्तर्षियों ने दिया था। रत्नाकर ने वह उपदेश प्राप्त कर अपने परिवार के जनों से पूछा, "तुम मेरे इस परिवारपालनार्थं किये जाते कुकर्म्म के दंड में भागी बनोगे या नहीं ?' उत्तर मिला—'तुम्हारे कर्म्म के उत्तरदाता तुम हो।' रत्नाकर को यह सुनकर निर्वेद उत्पन्न हुआ, जिसने परिपक्व होकर वैराग्य के रूप में परिणत हो उसे कालान्तर में वाल्मीकि ऋषि बनाया। धृतराष्ट्र का भाग्य ऐसा न बन सका और साथ ही भारत को ले डूबा।

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४३ ॥

धनुर्धारी से चलाया हुआ तीर एक को भी मार सके या न मार सके, किन्तु बुद्धिमान् से प्रयुक्त कीगई बुद्धि राजा समेत समस्त राष्ट्र को मार सकती है।

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४४ ॥

एक [बुद्धि] के द्वारा दो का निश्चय करके, तीन को चार के द्वारा वश में करो। पांच को जीत कर, छह को जान कर, सात को त्याग कर, सुखी हो।

[यह कूट श्लोक है। नीतिपरक व्याख्या में 'एक' बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा कर्तव्य तथा अकर्त्तव्य इन दो का निर्धारण करना चाहिए। मित्र, उदासीन तथा शत्रु इन तीन को साम, दान, दण्ड तथा भेद इन चार के द्वारा वश में करना चाहिए। मित्र को साम=मधुर वचन आदि के द्वारा उदासीन =तटस्थ=**Netural** को दान तथा भेद नीति के द्वारा और शत्रु को इन चारों उपायों से वश में करना चाहिए। पंच=पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियों को जीतना राजा के लिए परमावश्यक है, अजितेन्द्रिय विलासी राजा के राज्य का नाश अवश्यम्भावी है। इसीलिए नीतिकारों ने कहा है — इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्:, (मनु० ७।४४) राजा दिन-रात इन्द्रियों के जय के लिए यत्न करे। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधी-भाव तथा समाश्रय इन छह का स्वरूप जानना चाहिए। कणिकनीति में इनकी व्याख्या की जा चुकी है। राज्यकर्त्ताओं को इनका जानना राज्य-रक्षा के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है। त्यागने योग्य सात ये हैं—स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पंचमम्। महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च॥ (६२)=स्त्रियां, जुआ, शिकार, मद्यपान और पांचवीं वाणी की कठोरता, बहुत कठोर दण्ड तथा अर्थदूषण। इनके अनुसार आचरण करने से राज्य-कर्तृवर्ग सुखी रहता है।]

धृतराष्ट्र ने धर्म्म तथा परनैश्रेय उपदेश देने के लिए कहा था। धर्म्य=सामान्य कर्तव्य विषयक व्याख्या की जा चुकी है। अब परनैश्रेय व्याख्या लीजिए—एक परमार्थ बुद्धि के द्वारा दो नित्य तथा अनित्य, अथवा जीवात्मा तथा परमात्मा—(द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ ऋ० १।१६४।२०=दो सुन्दर, एक दूसरे से संयुक्त, एक पते वाले, एक संसार वृक्ष पर आलिगन करके बैठे हैं, उनमें से एक जीव इस संसार वृक्ष के स्वादु फल को खाता है, दूसरा परमात्मा न खाता हुआ सब ओर प्रकाश कर रहा है। इस मन्त्र में दो की चर्चा है) का निश्चयात्मक ज्ञान करके तीन काम, क्रोध तथा लोभ को, अथवा आधिदैविक, आधिभौतिक एवं

आध्यात्मिक दुःखों को, चार—शम,दम,उपरम तथा तितिक्षा अथवा श्रद्धा के द्वारा वश में करना चाहिए। अथवा कर्म्मेन्द्रियवर्ग,ज्ञानेन्द्रियवर्ग और मन इन तीन को यम, नियम,आसन तथा प्राणायाम; अथवा प्रत्याहार,धारणा,ध्यान तथा समाधि; अथवा विवेक, वैराग्य,षट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व इन चार के द्वारा वश में करना चाहिए। अथवा वैराग्य, भक्ति,उपासना तथा साक्षात् ज्ञान इन चार के द्वारा दृष्ट, श्रुत तथा योगविभूति जन्य विषयों को जीतना चाहिए। अथवा वैराग्यादि चार के द्वारा यज्ञ, अध्ययन एवं तप इन तीन को स्वाधीन करना चाहिए। अथवा वैराग्यादि चार के द्वारा, संचित, क्रियमाण, तथा प्रारब्ध कर्मों को वश में करना चाहिए। पांच से तात्पर्य्य पांच ऐन्द्रियक विषय हैं। इनको जीतना सबके लिए उपादेय है, अध्यात्मविद्या के अभिलाषी के लिए तो कहना ही क्या? कठोपनिषत् में कहा भी है—'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्' ॥ (२।६।१०) जिस अवस्था में पांच ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ रुक जाती हैं और बुद्धि भी निश्चेष्ट हो जाती है। उसको परम गति कहते हैं। अथवा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूपी पांच क्लेशों को जीतना चाहिए, अथवा प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति इन पांच वृत्तियों का निरोध=जय करना चाहिए। षट्कसम्पत्ति= शम (अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्म्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना), दम (श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना), उपरति (दुष्ट कर्म्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना), तितिक्षा (चाहे निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ कितना हो क्यों न हो, परन्तु हर्ष शोक को छोड़कर मुक्ति साधनों में सदा लगे रहना), श्रद्धा (वेदादि सत्य शास्त्रों और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के बचनों पर विश्वास करना) तथा समाधान (चित्त की एकाग्रता) इन छह को जानना, विचारना, प्राप्त करना अध्यात्ममार्गी के लिए अनिवार्य है। कहीं-कहीं 'षड् विजित्वा' ऐसा पाठ है। व्याकरण की रीति से यह

पाठ अशुद्ध है, 'षड् विजित्य' पाठ होना चाहिए। तब यह छः का अर्थ काम, क्रोध, लोभ, मोह. ईर्ष्या तथा अहंकार रूप इन छह को जीतने का उपदेश है। वेद में कहा भी है -उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋ० ८।४।२२) =उल्लू की चाल=मोह, तथा भेड़िये की चाल=क्रूरता=क्रोध को (जहि) मार दे, तथा कुत्ते की चाल=ईर्ष्या, और चिड़े की चाल =काम, सुपर्ण गरुड़ की चाल=अहंकार, तथा गीध की चाल=लोभ को मार दें। हे इन्द्र! राजन्! उस विकार-राक्षस को पत्थर से मसल दे। सात छोड़ने योग्य वही हैं जो राजा के लिए भी त्याज्य कहे हैं। इस प्रकार व्यवहार करने से सुखी= मुक्त होता है।]

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥ ४५ ॥

विष का रस एक को मारता है। शस्त्र से भी एक का घात होता है किन्तु मन्त्रविप्लव=मन्त्र का भेद राष्ट्र और प्रजा समेत राजा को मार देता है।

[हथियारों के दो मुख्य भेद होते हैं—एक शस्त्र, दूसरा अस्त्र। हथियार चलाने वाले के हाथ में रहकर जो लक्ष्य पर प्रहार करे वह शस्त्र, यथा तलवार, भाला, आदि। चलाने वाला जिसे दूर फेंके, वह अस्त्र, यथा बाण, बन्दूक, तोप, अणुबम, इत्यादि।]

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ४६ ॥

अकेला स्वादु वस्तु को न खाए। अकेला अर्थों=धनसंचय आदि का विचार न करे [अर्थात् अर्थागम, अर्थ व्यय आदि में अवश्य अन्यों से परामर्श करे।] मार्ग में अकेला न जाए। सोये हुओं में अकेला न जागे।

एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ४७ ॥

वह एक और अद्वितीय है जिसे, हे राजन् ! आप नहीं समझ रहे । वह सत्य स्वर्ग का सोपान=सीढ़ी है, जिस प्रकार समुद्र पार करने के लिए नौका ।

[सत्य एक होता है, मिथ्या अनेक होते हैं । दो और दो चार, यह एक अबाध्य एवं अद्वितीय सत्य है । सत्य का परिणाम स्वर्ग=सुखगति है । एकमेव०——=एक, सजातीय विजातीय स्वगतभेद शून्य सत्य स्वरूप ब्रह्म को जानने से स्वर्ग=मोक्षगति मिलती है ।]

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमागुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥

अतृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥

क्षमा करने वालों का एक ही दोष है, दूसरा नहीं बन पाता है । (वह यह है) कि क्षमा से युक्त मनुष्य को लोग असमर्थ मानते हैं ॥ किन्तु यह दोष नहीं माना जाना चाहिए,क्योंकि क्षमा परम बल है सचमुच दुर्बलों

का यह गुण है और बलवानों का भूषण है ।। क्षमा संसार में वशीकरण है क्षमा के द्वारा क्या नहीं सिद्ध हो सकता । जिसके हाथ में शान्ति=क्षमा रूपी खड्ग=तलवार हो, दुर्जन उसका क्या बिगाड़ेगा ।। अतृण (न जलने योग्य वस्तु) में डाली हुई आग स्वयं ही बुझ जाती है । क्षमा रहित मनुष्य अपने आप तथा शत्रु को दोष युक्त कर दे सकता है अर्थात् अपने तथा शत्रु के मरण तक का कारण बन सकता है ।। धर्म्म ही अकेला परम कल्याण है । क्षमा ही अकेली उत्तम शान्ति है । अकेली विद्या ही परम तृप्ति है । अकेली अहिंसा सुखदात्री है ।।

एक का वर्णन करके दो का निरूपण करते हैं—

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाऽविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ।। ५३ ।।

जैसे सर्प बिल में रहने वालों को निगल जाता है, वैसे ही यह भूमि इन दो को निगल जाती है—(१) एक विरोध न करने वाले राजा को । (२) तथा प्रवास न करने वाले ब्राह्मण को । (राजा यदि आक्रान्ता आदि का विरोध न करे तो राज्य गवां बैठेगा । ब्राह्मण यदि प्रवास न करेगा । तो न उसकी विद्या बढ़ेगी और न उसकी कीर्ति फैलेगी ।)

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ।। ५४ ।।

दो कर्म्म करता हुआ मनुष्य इस संसार में शोभा पाता है, चमकता है । कुछ भी कठोर न बोलता हुआ तथा किसी भी प्रकार असज्जनों का सत्कार न करता हुआ । (हे धृतराष्ट्र ! आप, शकुनि आदि दुष्टों का समादर कर रहे हैं ।)

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र ! परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ।। ५५ ।।

हे पुरुषव्याघ्र=नरसिंह ! ये दो दूसरे के सिखाए कार्य्य करते हैं। (१) कामित को चाहने वाली स्त्रियां तथा पूजित का पूजक लोक।

(कामित=जिसको अनेक स्त्रियां पहले से चाह रही हैं, उसको चाहने वाली स्त्री स्वयं विचारशील नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनेकों द्वारा पूजे जा रहे को पूजने वाला भी बुद्धिमान् नहीं हो सकता। वह भेडियाधसान का अनुष्ठान कर रहा है। आप कर्ण आदि की पूजा इसलिए कर रहे हैं, कि आपका पुत्र उसकी पूजा करता है।)

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५६ ॥

ये शरीर को सर्वथा सुखा देने वाले दो तीखे कांटे हैं—(१) जो निर्धन होकर ऊंचे मनोरथ करे और (२) जो असमर्थ होकर क्रोध करे।

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा।
गृहस्थश्च निरारंभः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ५७ ॥

ये दो (अपनी मर्य्यादा से) विपरीत कर्म्म करने वाले शोभा नहीं पाते। (१) कार्य्य न करने वाला गृहस्थ तथा (२) कार्य्यतत्पर संन्यासी।

[गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह गृहस्थी चलाने के लिए आजीविका का कोई न कोई उपाय अवश्य करे। संन्यासी को चाहिए कि वह लोकसेवा और आत्मचिन्तन में निमग्न रहे, अपने शरीर के भरण पोषण की चिन्ता न करे।)

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥

हे राजन् ! ये दो पुरुष स्वर्ग के ऊपर रहते हैं अर्थात् अत्यन्त आन-

न्दित रहते हैं। (१) समर्थ होता हुआ भी क्षमायुक्त, तथा (२) दरिद्र होता हुआ भी उत्तम दाता।

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥

न्याय=धर्म्म से प्राप्तधन के दो अतिक्रमण=अनुचित उपयोग जानने चाहिएँ (१) अपात्र को दान देना, तथा (२) पात्र को न देना।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बध्वा दृढाँ शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥

इन दो को गले में दृढ़ पत्थर बांधकर जल में डुबा देना चाहिए— (१) दान न करने वाले धनिक को, तथा (२) तप=परिश्रम न करने वाले दरिद्र को।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र ! सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६१ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! ये दो सूर्य्यमण्डल के भेदन करने वाले हैं (१) एक योगयुक्त संन्यासी तथा (२) सम्मुख युद्ध में मरा वीर। (शरीर में आठ चक्र हैं, उनमें सूर्य्यचक्र का भेदन करने से अपान तथा प्राण का समीकरण होकर समाधि सुलभ होती है, उससे मोक्षसिद्धि होती है। धर्म्मयुद्ध में सम्मुख मरने वाले को भी मोक्ष का अधिकारी बनाया गया है, यह रोचक वाक्य है।)

दो का निरूपण करके अब तीन का गुम्फन करते हैं—

त्रयोपाया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ६२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मनुष्यों के लिए तीन उपाय सुने जाते हैं। १,

कनीयान्=अधम। २–मध्यम, तथा ३–श्रेष्ठ, ऐसा वेदवेत्ता जानते हैं।

('त्रयोपाया:' में व्याकरणानुसार 'त्रय: अपाया:' पदच्छेद होता है। उसके अनुसार तीन अपाय=हानिकारक साधन हैं। सबसे निकृष्ट है काम-युक्तों से मेल, मध्यम काम्यधर्म्म, तथा इस संसार का लोभ उत्कृष्ट=सबसे बड़ा अपाय है। (कहीं-कहीं 'त्रयो न्यायाः' पाठ है। उसका अर्थ है 'तीन नीतियां'। 'वेदविद:' के स्थान में कहीं-कहीं 'वृत्तविद:' पाठ है।' वृत्त का अर्थ है चरित्र तथा इतिहास।

'त्रयोपाया:' पद में सन्धिच्छेद।)'त्रय: उपाया:' भी संभव है। किसी कार्य की सफलता के लिए तीन प्रकार के उपाय-साधन होते हैं। १—कनीयान्-निकृष्ट साधन युद्ध से कार्य की सफलता, २—मध्यम-भेद व दान से; ३—श्रेष्ठ साम से कार्य सिद्ध करना। दुर्योधन युद्ध (दण्ड) से तथा युधिष्ठिर साम से कार्यसिद्धि चाहता है, यह विदुर का संकेत है।

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६३ ॥

हे राजन्! मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम तथा अधम। उनको तीन प्रकार के कर्म्मों में यथायोग्य लगाए॥

त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य तेद्ध तस्यम् तन ॥६४॥

हे राजन्! पत्नी, सेवक, तथा पुत्र ये तीन धनहीन होते हैं। जो कुछ धन वे प्राप्त करते हैं, वह उसका होता है जिसके वे हैं।

(राजकर्म्मचारी सेवक जो राज्यार्थ धन अर्जन करता है, वह राज्य का होता है,इस दृष्टि से दास को अधन कहा है। पत्नी का पति से,पुत्र का पिता से धन विभक्त नहीं होता। इसलिए ये दो अधन हैं। यह श्लोक मनुस्मृति के [८।४१६] श्लोक से मिलता है। वह इसप्रकार है 'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधना: स्मृता:। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्'॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ ६५ ॥

पराए धनों का छीनना, पराई स्त्री से व्यभिचार करना तथा मित्र का परित्याग, ये तीन दोष विनाश कारक हैं ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ ६६ ॥

काम क्रोध तथा लोभ ये आत्मनाशक तथा नरक=दुःखमयी गति के तीन प्रकार के द्वार हैं, इसलिए इन तीन का मनुष्य त्याग करे ।

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत ।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ६७ ॥

उत्तम पदार्थों का दान, राज्य तथा पुत्रजन्म, हे भारत ! शत्रु को संकट से छुड़ाना यह एक उन तीन के समान है ।

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ६८ ॥

पूर्व के भक्त, वर्त्तमान के सेवक तथा 'मैं तेरा हूं' इसप्रकार कहने वाला, इन तीन शरणागतों को विपत्ति में भी न छोड़े ।

तीन का गुम्फन करके चार का सन्दर्भण करते हैं—

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ६९ ॥

महाबली राजा के लिए चार बातें परित्याज्य बतलाई गई हैं । बुद्धिमान् व्यक्ति उनको समझ रखे । (१) मूर्खों, (२) दीर्घसूत्रियों (कार्य में विलम्ब करने वालों) (३) रभसों=जोशीलों (विचार शून्यों) तथा (४) चारणों=भाटों के साथ मन्त्रणा न करे ।

(शीघ्र करने योग्य कार्य्य में जो विलम्ब करे, वह दीर्घसूत्री कहाता है। 'रभसैः' के स्थान में 'अलसैः' पाठ भी मिलता है, 'आलसी' इसका अर्थ है। 'चारणैः' में 'च—अरणैः' ऐसा पदच्छेद करने पर रण विरोधियों-भीरुओं के साथ भी मन्त्रणा का निषेध है। अर्जुन मिश्र के मत में 'चारणैः' पाठ अनार्ष है अर्थात् व्यासकृत नहीं है। उसके मत में यहाँ 'अशनैः' पाठ होना चाहिए। अशन का अर्थ भोजन भट्ट। इनके साथ कीगई मन्त्रणा गुप्त नहीं रह सकती और न ही उपयोगी होसकती है।)

चत्वारि ते तात ! गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७० ॥

हे तात ! गृहस्थ धर्म्म में लक्ष्मी से सर्वथा सेवित आपके घर में ये चार सदा बसें—(१) बूढ़ा सम्बन्धी (२) अवसन्न (दुःखी) कुलीन (३) दरिद्र मित्र तथा (४) निःसन्तान बहिन।

[घर में स्ववंश का बूढ़ा रहेगा तो कुल धर्म्म, एवं कुलमर्य्यादा का उपदेश करता रहेगा। अवसन्न श्रान्त कुलीन घर में होगा तो बच्चों को आचार की शिक्षा देता रहेगा और सदा आश्रयदाता की उन्नति, वृद्धि की कामना करेगा। दरिद्र मित्र एवं सन्तान रहित बहिन नित्य आश्रयदाता के कल्याण की कामना करेंगे। सन्तान हीन होने से भगिनी भाई के सन्तान से स्नेह करेगी। मित्र हित की बात करता रहेगा।]

चत्वार्याह महाराज ! साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥ ७१ ॥
देवतानां च सङ्कल्पमनुभावं च धीमताम् ।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७२ ॥

हे महाराज ! जिज्ञासा करने पर देवराज बृहस्पति ने चार कर्म तत्काल फलदायी बताये हैं। वे मुझ से सुनिये—(१) देवों का संकल्प (२) बुद्धिमानों का तेज प्रभाव, (३) विद्वानों का विनय और (४) पाप कर्मियों का विनाश ॥

[मनुष्यों के तीन भेद होते हैं—ऋषि, आर्य्य तथा म्लेच्छ। जिसका आचार विचार निन्दित है, उसे म्लेच्छ कहते हैं, जो यजमान=संगठन पूर्वक सत्कर्म्मकर्त्ता हो, वह आर्य्य; मानव जीवन के रहस्यों को जानने वाला,वेदार्थवेत्ता ऋषि कहाता है। ऋषि के पुनः तीन भेद हैं, ऋषि,साध्य तथा देव। जो समाधि तथा वेदाध्ययन के द्वारा किसी तत्त्व का साक्षात् करके अपने तथा अन्यों के कल्याण के लिए उसका प्रयोग करता है, वह साध्य है। अपनी स्वार्थ कामना का सर्वथा परित्याग करके जो निष्कामभाव से सर्वथा परहित साधन में निमग्न रहता है उसकी संज्ञा देव है। ऐसे महामनुष्यों के संकल्प कभी मिथ्या नहीं हो सकते, वे तत्काल सफल होते हैं।]

चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७३ ॥

चार निर्भय करने वाले कर्म्म, विधि विरुद्ध किये जाकर भय प्रदान करते हैं—(१) प्रमाण=विधियुक्त अग्निहोत्र (२) मानमौन=शास्त्रीय मौन (३) विधिपूर्वक अध्ययन तथा (४) विधि प्रमाण के अनुसार यज्ञ।

[तात्पर्य्य यह है—अग्निहोत्र आदि शास्त्रानुसार करने से उत्तम फलदायक होते हैं। देश, काल, पात्र आदि का विचार न करके अविधि से किये गये ये कर्म भयप्रद होते हैं। आपके तथा दुर्योधन के ये सब कर्म्म आपके लिए भयानक हैं। आपका अग्निहोत्र विफल है। आप पाण्डवों के भाग देने की चर्चा के समय मौन हो जाते हैं जो अनुचित है। मनुजी ने कहा है—'मौनात्सत्यं विशिष्यते'=मौन की अपेक्षा सत्य श्रेष्ठ है। ऋग्वेद[१०।११७।७]

में भी आदेश है—'वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्'==न बोलने वाले की अपेक्षा बोलनेवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है। आप वेदशास्त्र के अवसर पर मौन धारण करते हैं, अतः वह मौन अप्रामाणिक है। अतः आपका स्वाध्याय तथा अन्य यज्ञ भी व्यर्थ हैं। ये सब दम्भार्थ भी किये जाते हैं। आपके ये सब कर्म मान के लिए हैं, अतः इनके यथार्थ फल से आप वंचित रहेंगे।]

चार का सन्दर्भण करके अब पांच का प्रपंच करते हैं—

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताऽग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

हे भरतर्षभ ! पिता, माता, अग्नि (अग्निहोत्र), आत्मा, (आत्मा, परमात्मा, अपना आपा) तथा गुरु—इन पाँच अग्नियों की मनुष्य को यत्न-पूर्वक सेवा करनी चाहिए।

पञ्चैव पूजयंल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान्पितॄन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ७५ ॥

देवों, पितरों, मनुष्यों, भिक्षुओं और अतिथियों इन पाँच का सत्कार करता हुआ मनुष्य इस संसार में सुखदायी यश प्राप्त करता है।

[ब्रह्मयज्ञ के अतिरिक्त शेष चार महायज्ञों का विधान है।]

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ७६ ॥

जहाँ जहां तू जायेगा, पाँच-मित्र, शत्रु मध्यस्थ, उपजीव्य=आश्रय-दाता तथा उपजीवी=आश्रित तेरे पीछे-पीछे जायेंगे ॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ७७ ॥

पाँच इन्द्रियों वाले मनुष्य का यदि एक भी इन्द्रिय छिद्रयुक्त (दोषकारी) हो जाए, तो उसमें से इसकी बुद्धि ऐसे झरती है जैसे मशक से जल।

पांच का प्रपंच दिखाकर अब छह का भेद कहते हैं।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ७८ ॥

कल्याणाभिलाषी मनुष्य को इस संसार में निन्द्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रिता ये छह दोष त्यागने चाहिये।

षडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९ ॥

अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८० ॥

सागर में टूटी नौका के समान मनुष्य इन छह को छोड़ दे। (१) न पढ़ाने वाले आचार्य को (२) अपठित ऋत्विक् को (३) रक्षा न करने वाले राजा को (४) कड़वा बोलने वाली पत्नी को (५) ग्राम के अभिलाषी ग्वाले को तथा (६) वन के अभिलाषी नाई को।

[ग्वाले का कार्य गो आदि पशुओं का चराना है, वह बन में जाने से सिद्ध हो सकता है, यदि ग्वाला वन जाने के स्थान में ग्राम में रहना पसन्द करता है तो उसे छोड़ना ही उचित है। नापित का कार्य्य ग्राम, नगर आदि में संभव है, जो नाई ग्राम त्यागकर बनवास स्वीकार करे, वह अपने आप ही त्यक्त हो जाता है। गार्हस्थ्य की गाड़ी के पति तथा पत्नी दो पहिए हैं। इनमें केवल अविरोध ही नहीं चाहिए, वरन परस्पर प्रीति की रीति भी नीतिपूर्वक होनी चाहिए। जिसके अभाव में यानभंग की आशंका बनीं रहती है। प्रीति का प्रधान प्रमाण मधुर आलाप है। पति-पत्नी को

परस्पर मधुरभाषण करते हुए प्रीति बढ़ाने का यत्न करना चाहिए ।]

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८१ ॥

सत्य, दान, अनालस्य=फुरती, अनसूया, (डाह न करना) क्षमा तथा धृति ये छहों गुण मनुष्य को कभी नहीं त्यागने चाहिएँ ।

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८२ ॥

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८३ ॥

हे राजन् ! धन की आय, नित्य नीरोगता, प्रिय पत्नी, मधुरभाषिणी पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र तथा अर्थकरी विद्या ये छह इस संसार के सुख हैं ॥ आरोग्य, ऋण न होना, प्रवास न होना, सज्जन मनुष्यों के साथ मेल, स्वाधीन आजीविका तथा निर्भय निवास करना ये छह, हे राजन् ! इस संसार के सुख हैं ॥

[८३ वां श्लोक आजकल ८९ वां है । विषय की दृष्टि से इसका स्थान वही होना चाहिए जो हमने दिया है । नीरोगता दोनों में समान है । ८२ वें में पत्नी के दो विशेषण 'प्रिया' 'प्रियवादिनी' के कारण भेद उचित प्रतीत नहीं होता, अतः श्लोक कुछ असंगत सा लगता है ।]

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ।। ८४ ।।

चित्त में नित्य बसने वाले छहों पर जो मनुष्य अधिकार प्राप्त कर लेता है, वह विजितेन्द्रिय पापों से युक्त नहीं हो सकता, अनर्थों का तो कहना ही क्या ?

[यहाँ निर्दिष्ट छह से तात्पर्य्य काम, क्रोध, शोक, मोह, मद तथा मान है। मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रिय भी छह हो सकते है ।

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते ।
चौराःप्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ।। ८५ ।।
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ।। ८६ ।।

ये छह इन छहों पर निर्वाह करते हैं, सातवां नहीं मिलता । (१) चोर-प्रमादी पर (२) चिकित्सक-रोगियों पर (३) स्त्रियां कामियों पर (४) याजक-यजमानों पर (५) राजा-झगड़ालुओं पर तथा (६) पण्डित-मूर्खों पर ।

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसङ्गतिः ।। ८७ ।।

एक मुहूर्त भर न देखने (असावधानता) से ये छह नष्ट हो जाते हैं—(१) गौएं (२) सेवा (३) खेती (४) स्त्री (५) विद्या तथा (६) अधार्मिक की संगति ।

वृषल शब्द का अर्थ शूद्र किया जाता है । उसका मुख्य अर्थ धर्म्म-लोपक है । मनु जी कहते हैं—वृषो हि भगवान् धर्म्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् वृषलं तं विदुर्देवा···(८।१६)=वृष का अर्थ है भगवान् धर्म्म, उसकी जो

समाप्ति करता है, ज्ञानी उसे वृषल मानते हैं। वृषल का एक अर्थ धर्म्म को भूषित करने वाला भी होता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त को वृषल इसी अर्थ में पुकारा करता था। वेदाध्ययनादि सत्कर्म्मों से हीन होने से जिसमें इनका लोप है, उसे शूद्र कहते हैं।]

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।
आचार्यं शिक्षिताःशिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८८ ॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८९ ॥

ये छह नित्य पूर्व उपकारी का तिरस्कार करते हैं। (१) शिक्षित=शिक्षा प्राप्त कर चुके शिष्य आचार्य्य का; (२) विवाह होने पर पुत्र माता का; (३) कामना पूरी होने पर कामी जन नारीं का; (४) प्रयोजन सिद्ध होने पर सफल जन प्रयोजक का; (५) जल-जंगल आदि से पार हुए जन नौका (रक्षक-साधन) का, (६) रोगी जन चिकित्सक का ॥

ईर्षुर्घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९० ॥

ईर्ष्यालु, घृणा करने वाला, असन्तोषी, क्रोधी, नित्य शंका करने वाला, दूसरे के भाग्य पर जीने वाला, ये छह नित्य दुःखी रहते हैं॥

[घृणा का एक अर्थ दया भी होता है, दयालु भी प्रायः दुःखी देखे जाते हैं। चाहे उनका दुःख, पर दुःख के कारण ही होता है।]

छह का भेद बता कर अब सात का रहस्य कहते हैं—

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्यपारुष्यं च पञ्चमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

राजा को व्यसन कारक=दुःखदायी ये सात दोष सदा ही त्यागने चाहिएँ। प्रायः जिनके कारण बद्धमूल (पक्की जड़ वाले) राजा भी विनष्ट हो जाते हैं॥ (१) स्त्रियां (२) जुआ (३) शिकार (४) मद्यपान और (५) पांचवां कठोर वाणी (६) बहुत कठोर दण्ड तथा (७) अर्थ दूषण।

सात का रहस्य कहकर अष्ट को विस्पष्ट करते हैं—

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते॥ ६३॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति॥ ६४॥
नैनान्स्मति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान्दोषान्नरःप्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत्॥ ६५॥

विनष्ट होने वाले मनुष्य के पतन के पूर्व आठ निमित्त है=(१) वह ब्राह्मणों से वैर करने की पहल करता है। (२) ब्राह्मण उसका विरोध करते हैं। (३) ब्राह्मणों का धन छीनता है। (४) ब्राह्मणों की हत्या करना चाहता है। (५) इन (ब्राह्मणों) की निन्दा से प्रसन्न होता है। (६) इन (ब्राह्मणों) की प्रशंसा को पसन्द नहीं करता है। (७) धर्म्म कार्य्यों में इनको स्मरण नहीं करता अर्थात् इनको बुलाता नहीं और (८) ब्राह्मणों के याचन से कुढ़ता है। बुद्धिमान मनुष्य इन दोषों को समझे और समझ कर त्याग दे॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि॥ ६६॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनगामः।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः सन्निपातश्च मैथुने॥ ६७॥

समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ ९८ ॥

हे भारत ! ये आठ हर्ष के नवनीत [मक्खन=सारभूत] समान [साधन] वर्तमान दीखते हैं, तथा ये स्वयं सुखदायी हैं—(१) मित्रों के साथ मेल (२) महान् धनागम (३) पुत्र का आलिंगन (४) मैथुन में वीर्य्यपात (५) यथासमय प्रियों के साथ आलाप=बातचीत (६) अपने वर्गवालों में समुन्नति (७) अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति तथा (८) जन-समाज में पूजा प्रतिष्ठा ॥

['हर्षस्य नवनीतानि' के स्थान में 'हर्ष स्थानानि······'=पाठ कहीं है। उसका अर्थ है—हर्ष के ठिकाने-साधन ।]

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

आठ गुण पुरुषों को चमकाते हैं (१) प्रज्ञा=बुद्धि (२) कुलीनता (३) इन्द्रिय-निग्रह (४) शास्त्रज्ञान (५) वीरता (६) मितभाषिता (७) यथाशक्ति दान तथा (८) कृतज्ञता ।

अष्ट का स्पष्टीकरण करके अब नव का निरूपण करते हैं—

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥ १०० ॥

जो विद्वान् नौ द्वारों वाले, तीन खंभों वाले, पाँच साक्षियों वाले, क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा से अधिष्ठित उस वेश्म=सदन को जानता है, वह श्रेष्ठ कवि=ज्ञानी है ॥

[भारतीय साहित्य में प्रायः सर्वत्र शरीर को 'नवद्वार' कहा गया है ।

कबीर का वचन है—'इस नगरी के नौ दरवाजे'। वेद में कहा है—'अष्ट-चक्रा नवद्वारा' (अथर्व० १०।२।३१)=आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली पुरी। नवद्वारों की व्याख्या में भेद है। कई लोग कहते हैं दो चक्षुच्छिद्र, दो नासिकाच्छिद्र, दो कर्णच्छिद्र, एक मुख विवर, दो मलमूत्र के द्वार, इस प्रकार नौ द्वार बनते हैं। कई दूसरे विद्वान् कहते हैं—पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा स्थूल शरीर नौ द्वार है। यह अशुद्ध है, शरीर को तो वेश्म कहा जा रहा है, पुनः वह द्वार कैसे होगा ? वात, पित्त, कफ ये तीन स्थूणा हैं, अथवा सत्त्व रजस् तथा तमस् तीन स्थूणा हैं, अथवा शरीर का उपादान पृथिवी को मानकर जल, अग्नि तथा पवन ये तीन अवष्टम्भक, होने से स्थूणा हैं। अथवा अविद्या काम तथा कर्म्म स्थूणा है। पाँच साक्षी पाँच इन्द्रिया-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, अथवा उनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच साक्षी हैं, जब तक ये विषय गृहीत होते रहते हैं, तब तक यह वेश्म बना रहता है अथवा जब तक यह शरीररूप वेश्म बना रहता है तब तक इन विषयों का ग्रहण होता रहता है। अथवा पृथिवी, जल, तेज वायु तथा आकाश इसके दिखाने वाले हैं। कहीं-कहीं 'पञ्चसाक्षिकम्' के स्थान में पाठ 'पञ्चभूमिकम्' है, इसका अर्थ है पाँच मंजिलों वाला Fivestoryed पांच मालों वाला। यही शब्दादि विषय ही इसकी पाँच भूमियां हैं। कहीं-कहीं पाठ 'पाञ्चभौतिकम्' है। नीलकण्ठ के मत से वह पाठ अर्वाचीन होने से उपेक्ष्य है। क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा का यह अधिष्ठान है। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है क्षेत्र का जानकार। क्षेत्र का अर्थ शरीर है। जैसे भगवद्गीता (१३।१) में कहा है—'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्य-भिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः'॥

हे कौन्तेय (अर्जुन)! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इसको जो जानता है तज्ज्ञानी उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। 'नवद्वार—' वाले मूल श्लोक में शरीर को वेश्म तथा क्षेत्र दोनों नामों से कहा गया है।

इसका प्रयोजन है। आत्मा का निवास स्थान होने से इसे वेश्म कहना सर्वथा उचित है। मनुष्य शरीर में रहता हुआ जीव सुकर्म्म कुकर्म्म का बीज बोता है। अतः इसे क्षेत्र =खेत कहा है। तात्पर्य्य यह, कि सावधानता से चलो, कर्म्म करते हुए विचारो।]

नौ के पश्चात् दश की दशा का निर्देश करते हैं—

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र ! निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ १०१ ॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ १०२ ॥

हे धृतराष्ट्र ! दश मनुष्य धर्म को नहीं जानते, उनको मुझसे समझो (१) मत्त=नशई (२) प्रमत्त=असावधान (३) उन्मत्त=पागल (४) थका हुआ (५) क्रुद्ध (६) भूखा (७) शीघ्रकारी (८) लोभी (९) डरा हुआ और (१०) कामी ये दश हैं। अतः ज्ञानी मनुष्य इनसे लगाव न रखे।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०३ ॥

इस विषय (धर्म्म विषय) में हुआ पुरातन इतिहास सुनाते हैं, जिसे असुरराज सुधन्वा ने भी अपने पुत्र को सुनाया था।

[इसके आगे उपदेश तो है, इतिहास नहीं है, अतः इस श्लोक को भरती मानना चाहिए।]

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १०४ ॥

जो राजा काम क्रोध का त्याग कर देता है और जो धन का पात्र में प्रतिष्ठापन करता है (पात्र को दान देना धन की प्रतिष्ठा है)। जो सामान्य विशेष की पहचान करने वाला, शास्त्रज्ञ, तथा शीघ्रकारी है, सारा संसार उसका प्रमाण करता है, (उसे पथप्रदर्शक मानता है)।

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥ १०५ ॥

जो मनुष्यों को विश्वास दिलाना जानता है, और प्रसिद्ध अपराधियों को दण्ड दे सकता है, जो दण्ड की मात्रा तथा क्षमा करना भी जानता है, ऐसे उस राजा से समग्र लक्ष्मी प्रीति करती है ॥

सुदुर्बलं नावजानाति कञ्चिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥ १०६ ॥

जो किसी अत्यन्त दुर्बल का अपमान नहीं करता, सावधान होकर बुद्धिपूर्वक शत्रु से व्यवहार करता है, बलवानों के साथ झगड़े को पसन्द नहीं करता, और समय पर जो विक्रम करता है, वह धीर है।

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचिद्
उद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा,
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥ १०७ ॥

आपत्ति को प्राप्त करके भी जो कभी दुखी नहीं होता और प्रमाद रहित होकर उद्योग करना चाहता है, धुरन्धर—कार्य्यवहन समर्थ महात्मा

समय पर दुःख भी सह लेता है। जानो, उसके शत्रु जीते जा चुके हैं। [कहीं 'उद्योगम्' के स्थान में 'उद्यानम्' पाठ है। उद्यान का अर्थ उत्थान, उन्नति है।]

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम्।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव॥ १०८॥

जो मनुष्य परिवार से निरर्थक प्रवास, पापियों से मेल जोल, परस्त्री गमन, दम्भ, चोरी, पैशुन्य=चुगली, मद्यपान का सेवन नहीं करता है, वह सदैव सुखी रहता है।

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग—
माकारितः शंसति तत्त्वमेव।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः॥ १०९॥

अमूढ़ (बुद्धिमान्) मनुष्य न तो संरम्भ=उद्वेग=जोश से धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग का आरम्भ करता है। पूछने पर तत्त्व=यथार्थ ही बतलाता है, थोड़ी सी बात पर मित्र से झगड़ा नहीं करता, और पूजित न होने पर =यथेष्ट आदर सत्कार न पाने पर–क्रोध नहीं करता है।

न योऽभ्यसयत्यनुकम्पते च,
न दर्बलः प्रातिभाव्यं करोति।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम्॥११०॥

जो ईर्ष्या नहीं करता, किन्तु अनुकम्पा करता है, दुर्बल होकर प्रतिकूलता (विरोध) नहीं करता, अथवा जमानत नहीं देता। जो बढ़ बढ़कर बातें

नहीं करता और विवाद को सहन करता है, ऐसा मनुष्य सर्वत्र प्रशंसा पाता है।

यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान्।
न मूर्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥१११॥

जो कभी भी उद्धत=उजड्ड=वेढंगा वेष नहीं वनाता, और न ही दूसरों के आगे अपने बल पौरुषकी प्रशंसा करता है,और मूर्छित(पीड़ित)होकर, कुछ भी कटुवचन नहीं कहता है, लोक सच-मुच सदा उससे प्रेम करता है।

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११२॥

जो शान्त हुए वैर को नहीं भड़काता, न घमंड पर सवार होता है, न स्वयं अस्त होता है अर्थात् अपने को हीन नहीं जताता, 'दुर्गति में पड़ा हूं' ऐसा कहकर जो अकार्य्य नहीं करता, आर्य्य उसको परम आर्य्यशील मानते हैं।

['करोत्यकार्य्यम्' के स्थान में अन्यत्र 'करोति मन्युम्' पाठ है। उसका अर्थ है—शोक नहीं करता है।]

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा च पश्चात् कुरुते न तापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११३॥

जो अपने सुख में बहुत हर्ष नहीं करता और न ही दूसरे के दुःख में प्रसन्न होता है, और जो देकर पीछे पश्चात्ताप नहीं करता, वह सत्पुरुष आर्य्यशील कहाता है।

['प्रहृष्टः' के स्थान में कहीं कहीं 'प्रतीतः' पाठ है। उसका अर्थ है—सन्तुष्ट।]

देशाचारान् समयान् जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११४॥

जो देशाचारों, समयों=नियमों संकेतों तथा जातिधर्मों को पालन करना चाहता है, वह परावरज्ञ=छोटी बड़ी बात का जानकार है, वह जहाँ कहीं भी चला जाए, सदा महाजनों पर राज्य करता है। अर्थात् सभी मनुष्य उसका आदर करते हैं।

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम्।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत्स प्रधानः ॥११५॥

जो बुद्धिमान् दम्भ (ठगी के लिए धर्मानुष्ठान), मोह=अविद्या=विपरीतज्ञान, मत्सर=पराए उत्कर्ष को देखकर जलना, पापाचार, राजा का वैर, चुगली, समुदाय से वैर, मत्तों उन्मत्तों और दुर्जनों के साथ वाद-विवाद को त्यागता है, वह प्रधान है, बड़ा है।

दानं होमं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधांल्लोकवादान्।

एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥११६॥

दान, होम, दैवत=देवता संबन्धी कर्म, मंगलाचार, विविध प्रायश्चित्त तथा लोकप्रतिष्ठासाधक कार्य्य, इनको जो नित्य करता है, देवता भी [परमात्मा की प्रेरित प्राकृतिक शक्तियाँ भी] उसकी उन्नति को सिद्ध करती हैं।

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥११७॥

जो समानों के साथ विवाह करता है, हीनों के साथ नहीं, समानों के साथ मैत्री, व्यवहार=लेनदेन तथा कथा=गोष्ठी करता है, गुणों में विशिष्टों को आगे रखता है अर्थात् अपने से अधिक गुण वालों का अनुकरण करता है, उस ज्ञानी की नीतियाँ उत्तम नीतियाँ हैं।

['व्यवहारं कथां च' के स्थान में 'व्यवहारं विवादं' पाठ होने पर 'व्यवहार'=लेनदेन तथा विवाद-झगड़ा, अर्थ संगत होगा।]

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं—
स्तमात्मवन्तं प्रजहात्यनर्थः ॥११८॥

जो आश्रितों में बांट कर मित=अल्प खाता है। अमित=बहुत कार्य्य करके मित=थोड़ा सोता है, मांगने पर जो शत्रुओं को भी देता है, उस आत्मवान् को अनर्थ त्याग जाते हैं। अर्थात् उस पर अनर्थों का आक्रमण नहीं होता।

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किञ्चित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ॥११६॥

जिसके किसी चिकीर्षित [जिस कर्म के करने की इच्छा हो वह चिकीर्षित है] कर्म के विगड़ जाने पर दूसरे मनुष्य कुछ भी नहीं जानते हैं। उसकी मन्त्रणा के गुप्त और सम्यग् अनुष्ठित होने पर कोई थोड़ी सी भी वात प्रकट नहीं होती।

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२०॥

जो सव भूतों की शान्ति में संलग्न है, सच्चा, कोमल, [दूसरों का] मान करने वाला तथा शुद्ध भावों वाला है, वह अपने ज्ञातियों में, स्वच्छ खान उत्तम आकर में उत्पन्न हुई महामणि की भाँति वड़ा माना जाता है।

य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२१॥

जो मनुष्य निरन्तर स्वयमेव लज्जित रहता है अर्थात् किसी के सुझाये विना अपनी भूल जानकर लज्जित होता है,वह सव संसार का गुरु हो सकता है। वह अनन्त तेज वाला, उत्तम-मन, समाहित=सावधान मनुष्य सूर्य्य की भाँति तेज से चमकता है।

[असुरेन्द्र सुधन्वा का अपने पुत्र के प्रति कहा उपदेश समाप्त हुआ।

यह सुनाकर विदुर धृतराष्ट्र को वास्तविक बात कहता है ।]

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः ।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय ! ॥१२२॥
प्रदायैषामुचितं तात ! राज्यम्
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ! ॥१२३॥

छूत की बीमारी से दग्ध=मृत राजा पाण्डु के वन में उत्पन्न ये पाँच पुत्र पाँच इन्द्रों के तुल्य हैं। आपने ही इन बालकों को पाला-पोसा तथा शिक्षित किया है। हे आम्बिकेय=अम्बिका के पुत्र ! ये तेरा आदेश भी पालते हैं। अतः हे तात ! इनका उचित राज्य इनको देकर आप पुत्रों के साथ मुदित होकर सुखी हूजिए। उस अवस्था में, हे राजन् ! न देव और न मनुष्य आप पर कोई तर्कणा (दोषारोपण) कर सकेंगे।

[इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥]
विदुरप्रजागरे [=विदुरनीतौ] प्रथमोध्यायः ।

[एकया द्वे......' ४४वें श्लोक के अनुसार सात बातों तक की चर्चा होनी चाहिए। आठ, नौ और दस की चर्चा अप्रासंगिक प्रतीत होती है। अतः वादिराजतीर्थ ने ९२वें श्लोक तक ही टीका की है और वहाँ ही अध्याय समाप्त कर दिया है। दुर्घटार्थप्रकाशिका टीका के कर्त्ता विमलबोध ने ७३वें श्लोक पर अध्याय की समाप्ति मानी है। अर्थात् वादिराजतीर्थ के अनुसार ३१ श्लोक और विमलबोध के अनुसार पूरे पच्चास श्लोक प्रक्षिप्त हैं। १५वें श्लोक के पश्चात् के पाँच श्लोक, जिनकी संख्या भी सभी ने

पृथक् लिखी है, सभी के मत में प्रक्षिप्त हैं। प्रतीयमान पुनरुक्ति का कारण प्रक्षेप ही है। आर्य्य जाति उदार रही है, तभी तो असुरेन्द्र सुधन्वा का पुत्र के प्रति उपदेश भी प्रस्तुत प्रसंग में संगृहीत हुआ है। आर्य्य गुणग्राहक थे, जहाँ से भी मिलता गुण ले लेते थे। असुरेन्द्र का उपदेश तो विदुर के कथन के समर्थन के लिए संकलन किया गया प्रतीत होता है।

द्वितीयोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

जाग्रतो दह्यमानस्य यत्कार्यमनुपश्यसि ।

तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात ! धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे तात! [चिन्ता के मारे] जागते तथा निरन्तर जल रहे हुए मेरे लिए तुम जो कर्तव्य समझते हो, वह मुझे बताओ ! क्योंकि तुम हमारे बीच धर्म्म तथा अर्थ में प्रवीण हो ।

त्वं मां यथावद्विदुर! प्रशाधि

प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।

यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्व

श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरूणाम् ॥ २ ॥

हे विदुर ! अदीनसत्व ! तुम मुझे बुद्धिपूर्वक उस सबका यथावत् उपदेश करो, जिसको तुम युधिष्ठिर का हितकर मानते हो, और कुरुओं का कल्याणकारी [साधन] भी बताओ ।

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्

पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाऽहम् ।

कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथावन्

मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥

पाप की आशंका वाले तथा परिणाम में पाप को देखते हुए मैं व्याकुल चित्त हुआ तुमसे पूछता हूं । अतः मुझे युधिष्ठिर का अभिप्राय पूर्णतया ठीक-ठीक कहो ।

विदुर उवाच=विदुर बोला—

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥ ४ ॥
तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् ! हितं यत्स्यात्कुरून् प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥

[मनुष्य] जिसका पराभव=तिरस्कार न चाहे, बिना पूछे भी उसे —चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ हो, द्वेष करने योग्य हो अथवा प्रिय हो—वह बता दे ॥ इस वास्ते, हे राजन् ! जो बात कुरुओं के लिए हित-कारी होगी, वह कहना चाहता हूं। कल्याणकारी तथा धर्म्मयुक्त वचन को, कथन करने वाले मेरे वचन को सुनो-समझो।

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्ध्येयुर्यानि भारत ! ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥
तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥

हे भारत ! छल से युक्त तथा पीछे ताप=दुःख देने वाले कर्म्म यदि [तात्कालिक] सिद्धि दें, तो भी उनमें मन मत लगाओ। तथा वैसे ही युक्ति से किया हुआ और उपाययुक्त भी जो कार्य्य सिद्ध न हो, उसके कारण बुद्धिमान् अपने मन को खिन्न न करे।

[पाश्चात्यों का सिद्धान्त है End justifies the means=उद्देश्य उत्तम होना चाहिए, साधन चाहे कैसे भी हों। आर्य्यनीति में प्रवीण विदुर का कहना है, कि हीन साधनों से होने वाली सिद्धि की आकांक्षा ही मत करो।]

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

सानुबन्ध=सप्रयोजन कार्यों [में पहले प्रयोजन को सामने रखे, और प्रयोजनों का निश्चय करके ही कर्म करे। वेग से, शीघ्रता से न करे॥ प्रयोजन तथा कर्म्मों का परिणाम भली प्रकार जांचकर ही बुद्धिमान् मनुष्य उद्योग करे अथवा न करे।

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥
यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥

जो राजा स्थान=दुर्गादि विषयक, तथा राज्य के वृद्धि, क्षय के विषय में एवं कोष, राज्य व्यवस्था तथा जनपद के विषय में निश्चित परिस्थिति को नहीं जानता है, वह राज्य का स्वामी नहीं रह सकता। और जो इनकी परिस्थिति एवं इनके अनूकूल साधनों को ठीक ठीक जानता है, तथा धर्म्म और अर्थ के ज्ञान में युक्त है, वह राज्य प्राप्त करता है।

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥

राज्य प्राप्त हो गया है, अतः [इस मद में आकर] अनुचित व्यवहार न करने लग जाना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार बुढ़ापा सुन्दर रूप को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार अविनय=उद्धतता, उच्छृङ्खलता राज्यलक्ष्मी को नाश कर देता है।

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥ १३ ॥

लोभ से अभिभूत हुई मछली उत्तम भोजन से ढके हुए लोहे कुण्डे=

फाँस को, निगल जाती है, अनुबन्ध=पीछे से होने वाले बन्धन को नहीं देखती है।

[आरम्भ में सुखप्रद और अन्त में दुःख (मृत्यु) प्रद कर्म्म नहीं करना चाहिए। किसी ने 'लोभाभिपाती' के स्थान में 'रूपाभिपाती' पाठ माना है। उसका अर्थ है, ऊपर के रूप को देखकर भीतर की स्थिति का विचार किए बिना लुब्ध होने वाला।

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

जो निगला जा सके तथा निगला हुआ पच भी जाए, वह निगल लेना चाहिए। कल्याणाभिलाषी को वह खाना चाहिए जो परिणाम में हितकारी हो।

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥
यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम्।
फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥

जो वृक्ष के कच्चे फलों को चुन लेता है, वह उनसे रस नहीं ले सकता; और उसका बीज भी नष्ट हो जाता है। किन्तु जो मनुष्य समय पर तय्यार हुए पक्के फल को लेता है, वह फल से रस भी लेता है और समय पर बीज से पुनः फल भी प्राप्त करता है।

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥

जैसे भ्रमर पुष्पों को बचाता [हानि न पहुँचाता] हुआ मधु ले लेता है, ऐसे ही क्लेश दिए बिना राजा मनुष्यों से धन लेवे।

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥

आराम=उद्यान में माली की भांति फूल-फूल तो चुन ले, किन्तु अंगारे (कोयला) बनाने वाले की भांति मूल छेद न करे, जड़ न काटे।

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः।
इति कर्माणि सञ्चिन्त्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा॥ १६॥

इसको करके मेरा क्या होगा, और इसको न करने से मेरा क्या होगा? मनुष्य इस भांति कर्मों का यथावत् विचार करके तदनुसार करे, या न करे।

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽगताः।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः॥ २०॥
कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान्।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान्॥ २१॥

कई कार्य्य सदा ही अनारभ्य=अकर्तव्य होते हैं, ऐसे वे अप्राप्त कर्म्म भी, जिनके लिए किया गया पुरुषार्थ व्यर्थ हो, अकर्तव्य होते हैं। बुद्धिमान् किन्हीं तुच्छ मूल वाले किन्तु महाफल वाले कार्यों को शीघ्र आरम्भ कर देता है, उनमें विघ्न=विलम्ब नहीं होने देता।

['तथागताः' का पदच्छेद किसी ने 'तथा+गताः' किया है उसका अर्थ है–व्यर्थ। किसी ने 'तथा+अगताः' छेद किया है, उसका अर्थ है–किसी से भी पहले जो नहीं हुए, जैसे पर्वतनाशादि। किसी ने 'तथा+आगताः' छेद किया है। उसका अर्थ है–अनायास प्राप्त होने वाले। कार्य्य का परिणाम विचार करके प्रवृत्त होना चाहिए। मूल में जो २२ वां श्लोक है, वह प्रकरणानुसार २१ वां होना चाहिए, उसे हमने वैसा कर दिया है।

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः॥ २२॥
ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः॥ २३॥

जिसकी कृपा निष्फल हो तथा जिसका क्रोध निरर्थक हो, प्रजाएं उस राजा को नहीं चाहतीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ नपुंसक पति को नहीं चाहतीं। और जो आंख से सबको पीता हुआ सबको ऋजुता से देखता है, उस चुप बैठे रहने वाले को भी सब प्रजाएँ प्रेम करती हैं।

[राजा यदि कृपा करे, तो उसकी प्रतीति होनी चाहिए। जिस पर वह क्रोध करे, उसे उसका परिणाम भोगना ही पड़े। तब राजा का समादर होता है। २१ वें श्लोक को प्रकरणानुरोध से २२ वां स्थान हमने दिया है।]

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद्दुरारुहः।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥

फूल तो बहुत हों किन्तु फल न हो (वाणी आदि से सबको प्रसन्न करे, धन आदि देने वाला न हो)। यदि फल बहुत हों, तो उस पर चढ़ा न जा सके, (दाता होने पर किसी से दबे नहीं)। कच्चा हो किन्तु पक्के के समान प्रतीत हो, (दुर्बल भी बलवान् प्रतीत हो)। ऐसा राजा किसी भांति भी नष्ट नहीं होता।

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

आंख से, मन से, वाणी से तथा कर्म्म से जो इन चार प्रकारों से लोक को प्रसन्न रखता है, लोक भी उसे प्रसन्न रखता है। अथवा उसकी अनुकूलता में प्रसन्न होता है।

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ २६ ॥
पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान्स्वेन कर्मणा।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

जैसे पशुओं के शिकारी से पशु डरते हैं, ऐसे ही जिस राजा से सब प्रजाजन डरते हैं, (राजा के अत्याचार से बेचैन रहते हैं)। वह सागर पर्य्यन्त भूमि (चक्रवर्ती राज्य) प्राप्त करके भी नष्ट हो जाता है। बाप दादों के राज्य को प्राप्त करके भी अनीति में स्थित राजा अपने कर्म्म से उसे ऐसे नष्ट कर देता है जैसे वायु बादल को प्राप्त होकर उसे बिखेर देता है, छिन्न-भिन्न कर देता है।

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ॥ २८ ॥
अथ सन्त्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥
धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३० ॥

पूर्व के सज्जनों द्वारा आचरित धर्म्म का आचरण करने वाले राजा की वसुसंपूर्ण (धनधान्य से भर पूर) वसुधा=पृथ्वी=राज्य भूतिवर्धनी=ऐश्वर्य बढ़ाने वाली होकर बढ़ती है। और धर्म्म को त्यागने तथा अधर्म्म का आचरण करने वाले राजा की भूमि ऐसे सिकुड़ती है, जैसे अग्नि में डाला हुआ चमड़ा। अतः धर्म्म (धार्मिक साधनों) से राज्य प्राप्त करे और धर्म्म (धार्मिक साधनों) से उसकी पूर्ण रक्षा करे, क्योंकि धर्म्ममूलक लक्ष्मी को प्राप्त करके न उसे छोड़ना पड़ता है, और न उस से परित्यक्त होता है।

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्त्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३१ ॥

पर राष्ट्र के विनाश के लिए जो भी यत्न किया जाता है, वही यत्न स्वराष्ट्र के रक्षण के लिए करना चाहिए।

अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ ३२ ॥
सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
सञ्चिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥

प्रलाप करने वाले पागल तथा बकवास करने वाले बालक से भी सब प्रकार से सार ग्रहण करना चाहिए, जैसे पत्थरों से सोना लिया जाता है। जहाँ तहाँ से उत्तम रीति से उच्चारी हुई सूक्तियों यथा सुकृतियों को बुद्धिमान इसप्रकार चुनता रहे, जैसे शिलाहारी शिलों को 'सिट्टों' बालियों को खेत से चुनता है ॥

['परिजल्पतः' के स्थान में कहीं-कहीं 'परिसर्पतः, पाठ है। इसका अर्थ है—इधर-उधर खेलने वाला। वनवासी त्यागी दो प्रकार से अपनी आजीविका चलाते थे। एक प्रकार का नाम उञ्छ है, एक-एक दाना बीनना उञ्छ है। दूसरे का नाम शिल है, इसमें एक-एक बाली चुनने का विधान है।]

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥

गौएँ गन्ध से देखती है (जानती हैं),ब्राह्मण वेद से देखते हैं, अर्थात् कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान वेद से प्राप्त करते हैं। राजा चारों (गुप्तचरों) के द्वारा देखते हैं। अन्य जन अपने दो-दो नेत्रों से देखते हैं।

[पाण्डवों का व्यवहार चारों द्वारा जानने का उपदेश है।]

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

वह गौ बहुत दुःख प्राप्त करती है, जो गौ कठिनता से दुहाती है। और हे राजन् ! जो गौ सुदुहा=सरलता से दुहाने वाली होती है; उसे इस प्रकार क्लेश नहीं होता।

[तेरे पुत्र राजन् दुर्दुहा गौ के समान हैं।]

यदतप्तं प्रणमति न तत्सन्तापयन्त्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्सन्नमयन्त्यपि ॥ ३६ ॥
एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

जो लकड़ी तपाये विना झुक जाती है, उसे नहीं तपाते । और जो स्वयं (स्वभाव से) झुकी हुई होती है, उसे भी नहीं झुकाते हैं । इस उपमा से बुद्धिमान् मनुष्य वलवान् के प्रति स्वयं झुक जाए, जो मनुष्य वलवान् के आगे झुकता है, वह मानो इन्द्र के आगे झुकता है ।

[यदि कल्याण की अभिलाषा है, तो अपने पुत्रों से कहो, झूठी अकड़ छोड़ दें।]

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ ३८ ॥

पशुओं के रक्षक बादल होते हैं [बादलों के यथासमय बरसने से जल विपुल और घास पर्याप्त होता है] राजाओं के बन्धु=सहायक मन्त्री होते हैं। स्त्रियों के बन्धु=सहायक उनके पति होते हैं। ब्राह्मणों के बन्धु वेद होते हैं।

[चतुर्थ चरण की बात ३४ वें के दूसरे पाद में शब्दान्तर से कही जा-चुकी है । 'मन्त्रिबान्धवाः, के स्थान में किसी किसी ने' मित्रबान्धवाः' पाठ माना है, समय पर मित्र काम आते हैं।]

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥
मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गावश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥ ४० ॥

धर्म्म की सत्य द्वारा रक्षा की जाती है। विद्या की रक्षा अभ्यास से की जाती है। सुन्दरता की रक्षा मृजा=शुद्धि सफाई उबटन आदि के द्वारा की जाती है। कुल की सदाचार के द्वारा रक्षा की जाती है। नाप तोल के द्वारा धान्य की रक्षा होती है। अनुक्रम—चाल आदि का प्रशिक्षण अथवा इधर-उधर भागने से रोकने के लिए पादबन्धन घोड़ों की रक्षा करता है। बार-बार सार संभाल गौओं की रक्षा करती हैं। स्त्रियों की कुचेले=मलिन वस्त्रों से बचाकर रक्षा करनी चाहिए।

['स्त्रियों रक्ष्याः कुचैलतः' का भाव स्पष्ट नहीं है। कुचेल का एक अर्थ मलिनवस्त्र है। ऋतु-अवस्था वाली को मलवद्वासा—मलिन वस्त्रवाली कहते हैं। उस अवस्था में यदि स्त्री सचमुच मलिनवस्त्र पहन रखे, तो पति को उसका अनायास ज्ञान हो सकेगा। हमारे मत में इसका यही भाव है। किन्तु कई टीकाकारों का मत है कि मलिनवस्त्र धारण करने से उसके रूप की रक्षा हो सकेगी, अर्थात् पर पुरुष उस पर कुदृष्टि-पात न करेंगे, इस अर्थ में कोई विशेषता नहीं है। कईयों का मत है, मलिनवस्त्रों के कारण स्त्री वाहर न जाएगी, यह अर्थ भी व्यर्थ है। कईयों का कहना है, मलिन वस्त्रों के कारण लज्जा के मारे दूसरों का मुख स्त्रियां नहीं देखेंगी, यह अर्थ भी सारहीन है।]

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥ ४१॥

चरित्रहीन का कुल (उत्तम कुल में जन्मना) प्रमाण नहीं है, ऐसा मेरा विचार है। नीच कुलों में उत्पन्न हुओं की वृत्त के कारण विशिष्टता होती है।

[बहुत महत्वपूर्ण वात है। गुणकर्म्म के सामने जन्म की निकृष्टता स्पष्ट कही गई है।]

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः॥ ४२॥

जो पराये धनों में,रूप में, बल में, कुलीनता सम्बन्ध में सुख सौभाग्य तथा सत्कारों में ईर्ष्या करता है=देख कर जलता है, उसका रोग अनन्त है। वह इस रोग से सदा दुःखी रहता है।

अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात्।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत्पिबेत् ॥ ४३ ॥

अकार्य्य के करने से डरने वाला मनुष्य, कर्तव्य के वर्जन भय से, तथा असमय में रहस्य के खुल जाने के भय से, उस मद्य को न पिए,जिससे वह मत्त हो जाए।

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥
ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नाऽपतित्वा विबुध्यते ॥ ४५ ॥

विद्यामद, धनमद तथा तीसरा देश अथवा कुल का मद होता है। अहङ्कारियों के लिए यह उन्मादक होते है, किन्तु सज्जनों के लिए यही दमन का साधन बनते हैं। पानमदादि मद हैं किन्तु ऐश्वर्यमद उन सबसे पापिष्ठ=अतिनिकृष्ट है। ऐश्वर्य्यमद से मत्त मनुष्य गिरे बिना नहीं समझता है। अथवा नहीं सम्भलता है।

[ऐश्वर्य्यमदपापिष्ठा मदा...' श्लोक यद्यपि वर्तमान महाभारत में ५३ वाँ है, तथापि प्रकरणानुसार ४४ वें के पश्चात् ४५ वाँ होना चाहिए और वहाँ ही इसे हमने रखा है।]

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन।
तावन्न तस्य सुकृतं किंचित्कार्यं कदाचन।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ॥ ४६ ॥

कभी किसी कार्य्य के निमित्त सज्जनों से प्रार्थित हुए असज्जन तब तक कभी भी उसके किसी कार्य्य को सुकृत=भली प्रकार से किया हुआ नहीं मानते, जब तक अपने आप को असज्जन प्रसिद्ध होते हुए सज्जन नहीं मान लेते। (सज्जनों का कथित कार्य बिना किये ही अपने को सज्जन मान लेते हैं।)

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो नत्वसन्तः सतां गतिः॥ ४७॥

जितेन्द्रिय पुरुषों की गति [आधार=सहारा] सत्पुरुष हैं, सत्पुरुष ही सत्पुरुषों की गति है, और असत्पुरुषों की गति भी सत्पुरुष ही है। किन्तु असत्पुरुष सत्पुरुशों की गति कभी नहीं होते।

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम्॥ ४८॥
शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः॥ ४९॥

उत्तमवस्त्रधारी सभा को जीत लेता है। मीठे की आशा=इच्छा को गौओं वाला जीत लेता है। यान वाला मार्ग को जीत लेता है। शील वाला सभी को जीत लेता है॥ इस संसार में पुरुष का शील ही मुख्य है, जिसका वह नष्ट हो जाता है, उसका न तो जीने का प्रयोजन, नहीं बन्धु से से और न धन से उसे कोई लाभ।

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तमं दरिद्राणां भोजनं भरतषर्भ॥ ५०॥
सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत्स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा॥ ५१॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ! ॥ ५२ ॥

धनी लोगों का भोजन मांस प्रधान होता है, मध्य लोगों का भोजन गोरस प्रधान । हे भरतर्षभ ! दरिद्रों का तैल प्रधान भोजन होता है ॥ किन्तु दरिद्र ही सदा स्वादुतर भोजन करते है । भूख [भोजन में] स्वादुता उत्पन्न करती है, जो आढ्यों में अत्यन्त दुर्लभ है । संसार में श्रीमानों को प्रायः खाने का सामर्थ्य नहीं होता । हे राजन् ! दरिद्रों को तो काष्ठ भी पच जाते हैं ।

[आढ्यानां शब्द का भाव एक टीकाकार ने 'स्थूलकायानां मदान्धानाम्, इदानीं तव पुत्राणाम्' =स्थूल शरीर वाले मद से अन्धे तेरे पुत्र' किया है । इसी टीकाकार ने 'दरिद्राणां लावणोत्तरम्' पाठ स्वीकारा हैं, और अर्थ लिखा है=दरिद्राणामर्थरहितानां लावणोत्तरं लवणसमुद्रा एव उत्तरा यस्य एतादृशं राज्यमेव भोजनम्'=अर्थशून्य पाण्डवों का खारी समुद्रों तक राज्य ही भोजन है ॥' ५२ श्लोक पर एक टीकाकार ने यह अभिप्राय बतलाया है, कि श्रीमान् अर्थात् दुर्योधनादि का राज्यभोग सामर्थ्य नहीं है । स्वयं दुर्योधन का वचन है—'दुर्विनीतः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव वा । न तिष्ठति चिरं भद्रे यथाहं मदगर्वितः ।'=दुर्विनीत मनुष्य लक्ष्मी, विद्या वा ऐश्वर्य प्राप्त करके चिर काल तक कल्याण भागी नहीं रह सकता, जैसे मद से गर्वित मैं ।']

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् ।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम् ॥ ५३ ॥

अवृत्ति अभाव अन्त्यों=अधमों के लिए भय है । मध्यमों को मरण से भय होता है । उत्तम मनुष्यों को तो अपमान से बड़ा भय होता है ।

[अवृत्ति वैदिक शब्द है, इसका अर्थ—अभाव, अन्नाभाव, वस्त्राभाव, स्थानाभाव, सुखाभाव आदि है]

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५३ ॥.

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥ ५६ ॥

इन्द्रियों के विषय में संलग्न, अनिगृहीत इन्द्रियों से यह लोक इस प्रकार तपाया जाता है—आक्रान्त होता है, जैसे ग्रहों के द्वारा नक्षत्र आक्रान्त किये जाते हैं। जो मनुष्य आत्मा को खेंचने वाले स्वाभाविक पञ्चवर्ग—शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध विषयपञ्चक से विजित रहता है, उसकी आपत्तियाँ ऐसी बढ़ती हैं, जैसे शुक्लपक्ष में तारापति चन्द्र। जितेन्द्रिय, जिसने अपना आत्मा—मन पर वश किया हुआ है, ऐसे विकारियों—विरुद्ध कारियों पर दण्ड धारण करने वाले, जांचकर कार्य्य करने वाले धीर—बुद्धिमान् को श्री—राज्यलक्ष्मी नितान्त सेवन करती है।

[५५ वें के पश्चात् ५८ वाँ होना चाहिए, विषय की दृष्टि से हमने उसी स्थान पर रखा है। वर्तमान ५६ वां ५७ वां श्लोक का स्थान ६५ वें श्लोक के पश्चात् चाहिए।]

रथः शरीरं पुरुषस्य राज—
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै—
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५७ ॥

हैं राजन् ! यह शरीर पुरुष का रथ है, आत्मा इसका संचालक है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं। प्रमाद रहित चतुर उनसे सुख प्राप्त करता है, जिस प्रकार बुद्धिमान् रथवान् दान्त=नियन्त्रित उत्तम घोड़ों के द्वारा सुखपूर्वक जाता है।

[यह श्लोक कठोपनिषत् [१।३।३-४] के 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्' के अनुरूप है।)

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ५८ ॥

ये वश में न की हुई प्राणान्त कराने में समर्थ होती हैं, जिस प्रकार अशिक्षित, असँयत अश्व कुसारथि को मार्ग में समाप्त कर दे सकते हैं।

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थञ्चैवाप्यनर्थतः।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं तन्यते सुखम् ॥ ५९ ॥

मूर्ख मनुष्य अर्थ=सुख साधनों से, अनर्थ=झगड़ा बखेड़ा दुःख मानता हुआ, और अनर्थ=चोरी आदि से अर्थ=धन की प्राप्ति मानता हुआ इन्द्रियों से पराजित होकर महादुःख को सुख मानता है।

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६० ॥

जो मनुष्य धर्म तथा अर्थ का त्याग करके इन्द्रियों के अधीन हो जाता है वह शीघ्र लक्ष्मी, धन एवं परिवार से वियुक्त हो जाता है।

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य अर्थों=धनादि का स्वामी होता हुआ इन्द्रियों का स्वामी न हो, इन्द्रियों पर अनधिकार के कारण वह ऐश्वर्य्य से शीघ्र ही भ्रष्ट=च्युत हो जाता है।

आत्मनाऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६२ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥ ६३ ॥

मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को संयत करके आत्मा के द्वारा आत्मा को खोजे, क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु एवं आत्मा ही अपना शत्रु है। आत्मा उस आत्मा का बन्धु है, जिसने आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत लिया है, वही निश्चित बन्धु है; तथा जिसने अपने को नहीं जीता, वही अपना निश्चित शत्रु है।

अविजित्य यथात्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान्वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ६४ ॥
आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ६५ ॥

जो मनुष्य अपने को जीते विना अमात्यों को जीतना चाहता है, अथवा अमात्यों को जीते विना शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह विवश होकर पराजित होता है। आत्मा=अपने आप को जो शत्रु रूप से प्रथम जीत लेता है, इसके पश्चात् अमात्यों एवं शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह जय की इच्छा निष्फल नहीं करता।

['द्वेष्यरूपेण' के स्थान में कई टीकाकारों ने 'देशरूपेण' पाठ माना है। उसके अनुसार अर्थ होता है—देश=सज्जनों का उपदेश, उसमें निरूपणीय नीति, उसके द्वारा आत्मा को जीते। देश का एक अर्थ उद्देश्य भी होता है, अर्थात् अपने उद्देश्य के अनुरूप कर्म्म के द्वारा अपने आत्मा को वश में करे। कई टीकाकारों ने आत्मा का अर्थ इन श्लोकों में मन किया है।]

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥ ६६ ॥

सूक्ष्म छिद्र वाले जाल से त्रिहित (छिपाये हुए, फांसे हुए) बड़े मच्छ जैसे, जाल को नष्ट कर देते हैं। वैसे ये काम तथा क्रोध, हे राजन् ! बुद्धि का लोप कर देते हैं।

[परस्पर वैरी होने पर भी यदि दो बड़ी मछलियाँ एक जाल में फँस जाएँ, तो वे मिलकर जाल को तोड़ डालती हैं। इसी प्रकार काम तथा क्रोध एक दूसरे के विपरीत होते हुए भी बुद्धि का लोप कर देते हैं।]

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति ।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

धर्म्म तथा अर्थ का विचार करके जो संभार=जय साधनों को प्राप्त करता है, ऐसा संभृत-संसार [साधन-सम्पन्न] मनुष्य निरन्तर सुख को बढाता है।

[कोई कोई इसका भाव यह निकालते हैं —'धर्मार्थ का विचार करके संभारों को=विषयों को जो भोगता है, वह विषयों का संग्रह करके अति सुखी होता है।']

यः पञ्चाभ्यन्तरान्शत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥

जो मनोमय पांच भीतरी शत्रुओं को जीते विना अन्य बाहरी शत्रुओं को जीतने की इच्छा करता है। उसको शत्रु दबा लेते हैं।

दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

बड़े-बड़े राजा (रावणादि) अपने किये राज-विलासों के कारण इन्द्रियों के अधीन होने के कारण मारे जाते देखे गए हैं।

असंत्यागात्पापकृतामपापां —
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा—
त्तस्मात्पापैः सह सन्धि न कुर्यात् ॥ ७० ॥

पापियों का त्याग न करने से पाप रहितों को भी मित्रता [मिले रहने] के कारण समान दण्ड मिलता है। मेल के कारण सूखे के साथ गीला भी जल जाता है, अतः पापियों के साथ मेल मिलाप न करे।

[मनु महाराज ने पापियों की गणना के प्रसङ्ग में उन उन पापकर्म्मों के करने वालों के साथ उठने बैठने वाले को भी उतना ही अपराधी गिनाया है। समस्त संसार के दण्ड-विधानों में अपराधियों के सहयोगियों को भी समान अपराधी माना जाता है।]

निजानुत्पततः शत्रून्पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

पांच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) की ओर जाने वाले, कुमार्गगामी, पञ्च इन्द्रियरूप शत्रुओं को जो नहीं दबाता है, अन्यायपूर्वक उधर जाने से नहीं रोकता है, विपत्तियां उस नर को ग्रस लेती हैं।

अनसूयार्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥

अनसूया (ईर्ष्या न करना), आर्जव=सरलता, शौच=शुद्धि, सन्तोष, प्रियवादिता, दम=इन्द्रियजय, सत्य तथा अनायास=सहिष्णुता ये गुण दुष्टों के नहीं होते।

आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ७३ ॥

आत्मज्ञान, अनायास, तितिक्षा, धर्म्म में तत्परता, सुरक्षित=संयत-वाणी तथा दान ये अन्त्यों=नीचों में नहीं होते ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

मूर्ख जन रूक्ष (कटु, कठोर) भाषण तथा निन्दा के द्वारा ज्ञानियों को पीड़ा देते हैं। कठोर वचनादि के वक्ता को पाप लगता है, और उनको सहने वाला छूट जाता है, अर्थात् निर्दोष रहता है।

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञो दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

हिंसा दुष्टों का बल है, अपराधी को दण्ड देना राजाओं का बल है। शुश्रूषा (पतिसेवा) स्त्रियों का बल है, क्षमा गुणियों का बल है।

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम् ॥ ७६ ॥

हे राजन् ! वाणी का संयम सबसे अधिक दुष्कर माना गया है। सार्थक तथा अद्भुत बहुत नहीं बोला जा सकता।

[कुमारिल भट्टाचार्य्य ने लिखा है —'यः बहु वदति फल्गु वदति' =जो बहुत बोलता है, असार बोलता है।]

अभ्यावहति कल्याणं विविध वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥

सुभाषित=उत्तमता से बोली गई वाणी नाना प्रकार के कल्याण को प्राप्त कराती है। हे राजन् ! दुर्भाषित वाणी अनर्थ का हेतु बनती है।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

वाणों से बींधा हुआ घाव भर जाता है (अर्थात् स्वस्थ हो जाता है) कुल्हाड़े से काटा हुआ वन पुनः उग पड़ता है, किन्तु वाणी से दुरुक्त, बीभत्स (गन्दा) कथन रूप वाक्क्षत=वाणी का घाव पुनः स्वस्थ नहीं होता।

कर्णि-नालीक-नाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ।। ७६ ।।

कर्णिका=फलदार वाण, नालीक=गोली, नाराच=सर्वलोहमय अस्त्रों को शरीर से निकाल सकते हैं, किन्तु वाणीरूप शल्य=काँटा नहीं निकाला जासकता, क्योंकि वह हृदयस्थ होता है।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान्पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः ।। ८० ।।

कठोर वाणी रूपी वाण मुख से निकलते हैं, जिनसे ताडित होकर मनुष्य रात्रि-दिन दुःखी रहता है। शत्रु के मर्मस्थलों में जो न गिरें, ऐसे वाणों को शत्रुओं के प्रति न छोड़े।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ।। ८१ ।।
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ।। ८२ ।।
सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनामवबुध्यसे ।। ८३ ।।

दैवी शक्तियाँ जिस पुरुष को पराजय दिलाने को होती है, उसकी बुद्धि को हर लेती है, इससे वह अवचनीय=न कहने योग्य बातें कहने लगता है, नीच कर्मों की ओर उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। बुद्धि के विकृत हो जाने पर और विनाश के उपस्थित होने पर, नीति प्रतीत होने वाली अनीति

हृदय से दूर नहीं होती। हे भरतश्रेष्ठ ! इस विपरीत बुद्धि ने तेरे पुत्रों को घेर रखा है। पाण्डवों के विरोध के कारण आप इसे समझ नहीं रहे।

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत्।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः॥ ८४॥
अतीव सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित्॥ ८५॥
अनुक्रोशादानृशंस्याद्योऽसौ धर्मभृतां वरः।
गौरवात्तव राजेन्द्र बहून्क्लेशांस्तितिक्षति॥ ८६॥

हे धृतराष्ट्र ! जो युधिष्ठिर लक्षण युक्त होने के कारण त्रिलोकी का राजा हो सकता है, वह तेरा भक्त शत्रुओं का शासक होवे। भाग्यशाली, धर्म्म तथा अर्थ के तत्त्वों का ज्ञाता, तेज तथा बुद्धि से सम्पन्न धर्म्मराजपुत्र दया, अहिंसा तथा दानादि के द्वारा तेरे सभी पुत्रों से अधिक योग्य है। किन्तु तेरे प्रति आदर के कारण वहुत क्लेशों को सहन कर रहा है।

॥ इति विदुरनीतौ द्वितीयोऽध्यायः॥

[दुर्घटार्थ प्रकाशिका ५१ वें श्लोक पर समाप्त होती है। अर्थात् उसके अनुसार शेष ३५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं।]

तृतीयोऽध्यायः

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः ।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोला—हे महाबुद्धे ! मुझे पुनः धर्मार्थयुक्त वचन कहिए । सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती , क्योंकि आप अद्‌भुत भाषण करते हो ।

[विदुर जी को जो कुछ कहना था, वह तो पहले अध्याय में कह दिया गया है । फिर तो आम्रेडन (एक बात का कई बार कहना) ही है । धृतराष्ट्र का यह कथन भी यही कहता हैं । धृतराष्ट्र का विचार था—विदुर मेरे मन के अनुकूल कहेगा, किन्तु उसने यथार्थ बात ठीक ही, इससे धृतराष्ट्र की तृप्ति नहीं हुई ।]

विदुर उवाच—। विदुर बोला—

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो ।
इह कीर्ति परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।
तावत्स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥
विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

सब तीर्थों में स्नान अथवा सब प्राणियों पर दया ये दोनों ही तुल्य हैं। अथवा दया दोनों में श्रेष्ठ है॥ हे राजन्! युधिष्ठिर आदि पुत्रों पर निरन्तर दया कर। इस संसार में उत्तमकीर्ति को प्राप्त करके स्वर्ग प्राप्त करेगा। जब तक संसार में मनुष्य की पुण्य कीर्ति गाई जाती है, तब तक हे पुरुषव्याघ्र! वह मनुष्य स्वर्ग में प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहता है। इस विषय में केशिनी के सम्बन्ध में सुधन्वा के साथ विरोचन के संवादरूप पुरातन इतिहास को सुनाते हैं। हे राजन्! केशिनी नाम की कन्या जो रूप में अनुपम थी, विशिष्ट पति की प्राप्ति-कामना से स्वयंवर के लिए तत्पर हुई थी। उस समय दैत्यवंशी विरोचन उसे चाहता हुआ वहीं आ गया। तव केशिनी ने उस दैत्यराज को कहा—

[तीर्थ शब्द का एक अर्थ 'शास्त्र' भी होता है। अर्थात् एक ओर सर्वशास्त्रों का अवगाहन और दूसरी ओर सब भूतों पर दया, इनमें से व्यावहारिक दृष्टि से दया श्रेष्ठ है। स्वर्ग शब्द का अर्थ है—स्वर्+ग॥ अर्थात् सुख पहुँचाने का साधन। दूसरों को सुख देने से प्रतिफल में सुख अवश्य मिलता ही है। चतुर्थ श्लोक प्ररोचनामात्र है। आगे पुरातन इति-हास भरती मात्र है—]

केशिन्युवाच—केशिनी ने कहा—

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद्विरोचन।
अथ केन स्म पर्यंकं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

हे विरोचन! क्या ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, अथवा दैत्य? किस कारण से सुधन्वा

पलङ्ग पर नहीं चढ़ता है ? (अर्थात् वह क्यों विवाह नहीं करता है ? अथवा राजसिंहासन पर क्यों नहीं बैठता है ?)।

विरोचन उवाच—विरोचन बोला—

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः॥ ९॥

हे केशिनि ! प्रजापति के सन्तान हम दानव ही श्रेष्ठ तथा उत्तम हैं। ये सब लोक हमारे हैं ? देव कौन हैं, और ब्राह्मण कौन है ?

केशिन्युवाच—केशिनी ने कहा—

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ॥ १०॥

हे विरोचन ! यहाँ ही हम दोनों सुधन्वा के मेल के निमित्त प्रतीक्षा करें। (प्रतीक्षा में ठहरें)। कल प्रातःकाल वह यहाँ आएगा। मैं आप दोनों को एक स्थान पर देखूंगी।

[टीकाकार अर्जुनमिश्र कहता है—"इहैवास्व......आवाम् इत्यसन्न्यक्" अर्थात् शुद्ध पाठ 'इहैवास्व' है, 'इहैवावाम्' अशुद्ध पाठ है। 'आस्व' का अर्थ है—ठहर (यदि अर्जुनमिश्र का पाठ स्वीकार किया जाए, तो फिर "प्रतीक्षाव' के बदले 'प्रतीक्षायाम्' पाठ करना पड़ेगा। तब श्लोक का अर्थ होगा—'यहाँ ही सुधन्वा के मेल के स्थान पर उसकी प्रतीक्षा में ठहर।]

विरोचन उवाच—विरोचन ने कहा—

तथा भद्रे ! करिष्यामि यथा त्वं भीरु ! भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ॥ ११॥

हे भद्रे ! हे भीरु ! जैसे तू कहती है, वैसे ही करूंगा। प्रातःकाल तुम सुधन्वा तथा मुझ को संगत=एक साथ देखोगी।

विदुर उवाच – विदुर ने कहा—

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले ।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम ।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥
सुधन्वा च समागच्छत्प्राह्लादिं केशिनो तथा ।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥

रात्रि के बीतने तथा सूर्य्यमण्डल के उदय होने पर, हे राजसत्तम !' उस ठिकाने सुधन्वा आया। हे राजन्, जहाँ केशिनी के साथ विरोचन ठहरा हुआ था। सुधन्वा भी प्रह्लादपुत्र=विरोचन तथा केशिनी के पास आया। हे भरतश्रेष्ठ ! केशिनी ने सुधन्वा ब्राह्मण को देखकर, उठकर (उठकर सत्कार करके) पश्चात् उसे आसन, अर्घ्य और पाद्य दिया।

सुधन्वोवाच—(विरोचन द्वारा अपने साथ आसन पर बैठने के लिए कहने पर) सुधन्वा बोला—

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ! ते वरासनम् ।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥

हे प्रह्लाद पुत्र ! तेरे सुनहरी आसन को मैं स्पर्श तो कर लेता हूं, किन्तु तेरे साथ एक-तुल्य होकर नहीं बैठता।

[सुधन्वा का यह कथन असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि विरोचन ने तो उसे आसन दिया नहीं, आसन तो केशिनी ने दिया था। इस असंगति का अनुभव कर टीकाकार नीलकण्ठ को लिखना पड़ा 'विरोचनेन सौवर्णे पीठे मया सह उपविश्यताम् इति प्रार्थितः सुधन्वा उवाच—अन्वालभे...।' अर्थात् मेरे साथ इस सुवर्ण आसन पर बैठिये, ऐसा विरोचन के द्वारा प्रार्थित होकर सुधन्वा ने कहा—'अन्वालभे—।' उपलभ्यमान मूल महाभारत

में उपलब्ध न होने से नीलकण्ठ की यह कल्पना निराधार जंचती है।[1]]

विरोचन उवाच—विरोचन बोला—

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी ।

सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥

हे सुधन्वन् ! तेरे योग्य तो काठ का पटड़ा, दर्भ का आसन अथवा अन्य घास का बना आसन है। मेरे साथ एक आसन पर तू बैठने योग्य नहीं है। उसने शिष्टाचार के अनुकूल कार्य किया।

१—टीकाकार नीलकण्ठ की कल्पना निराधार नहीं है। मूल महाभारत में सुधन्वा और विरोचन का संवाद उपलब्ध है। यह भी निश्चित है, कि केशिनी के समीप सुधन्वा के पहुँचने से पहले विरोचन वहाँ विद्यमान था। केशिनी का यह कर्त्तव्य था, कि वह अभ्यागत को उचित आसन दे।

ऐसे अवसर पर विरोचन का–सुधन्वा को अपने आसन पर बैठने का कथन शिष्टाचार के अनुकूल नहीं था। वह भी सुधन्वा के समान उस घर का मेहमान था। अभ्यागत को गृहपति द्वारा आसन देना सर्वथा उचित है। तब विरोचन के उक्त कथन में कुछ उपहास अथवा व्यङ्ग्य आदि की भावना हो सकती है, जिसे शिष्टाचार नहीं कहा जा सकता। अगले संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है, विरोचन के अपने बराबर आसन पर बैठने के प्रस्ताव को सुधन्वा ने शिष्टाचार के प्रतिकूल समझा। इसलिये उसके उत्तर में कोई असंगति नहीं है।

यद्यपि विरोचन द्वारा सुधन्वा को अपने बराबर आसन पर बैठने के प्रस्ताव का उल्लेख मूल महाभारत में नहीं है, फिर भी सुधन्वा के कथन में कोई असंगति नहीं, क्योंकि ऐसे अवसर पर स्वभावतः समीप बैठे व्यक्ति द्वारा उस प्रकार का प्रस्ताव असंभाव्य नहीं। सुधन्वा के कथन से विरोचन के प्रस्ताव का पता लगता है, उसी को नीलकण्ठ ने स्पष्ट किया है।

(उदयवीर शास्त्री–सम्पादक)।

[जैसे को तैसा उत्तर है। निरादर का फल निरादर ही होता है[1]।]

सुधन्वोवाच—सुधन्वा ने कहा—

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥
पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किञ्चन बुध्यसे ॥ १७ ॥

पिता पुत्र दोनों, अथवा दो ब्राह्मण तथा दो क्षत्रिय अथवा दो बूढ़े, दो वैश्य या दो शूद्र इकट्ठे बैठ सकते हैं। अन्य कोई दो एक-दूसरे के साथ नहीं॥ मुझ ऊपर बैठ हुए के पास तुम्हारा पिता तो मुझ से नीचे ही बैठता है। घर में सुख से लालित पालित तुम बालक हो, कुछ शिष्टाचार अभी नहीं जानते हो! [कहीं कहीं—'०मुपासीतैव' के स्थान में—'० मुपस्थाता' पाठ है। अर्थ एक है।]

विरोचन उवाच—विरोचन बोला—

हिरण्यं च गवाश्वं च यद्वित्तमसुरेषु नः।
सुधन्वन्विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

हे सुधन्वन्! हम असुरों में सुवर्ण, गौ, अश्व आदि जो धन है, मैं उससे शर्त लगाता हूं (पणबन्ध करता हूं) जो [हममें से कौन श्रेष्ठ है, इसको] जानते है, उनसे पूछें।

सुधन्वोवाच—सुधन्वा ने कहा—

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

१—सुधन्वा का कथन विरोचन के निरादर की भावना से नहीं है। उसका आधार शिष्टाचार को अभिव्यक्त करनामात्र है।

उदयवीर शास्त्री—संपादक।

हे विरोचन ! सोना, गौएं घोड़े तेरे ही रहें। प्राणों का पण लगा-कर हम जानकारों से प्रश्न पूछें।

[पण लगाना ही हो, तो कठोर लगाना चाहिए।]

विरोचन उवाच—विरोचन बोला—

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

प्राणों का पणबन्ध कर हम किन में जाएंगे, क्योंकि मैं कभी भी देवों तथा मनुष्यों को मध्यस्थ नहीं मानूंगा।

[वचने की युक्ति तो अच्छी सोची है, किन्तु............]

सुधन्वोवाच—सुधन्वा ने कहा—

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

प्राणों का पण बाँध कर हम दोनों तुम्हारे पिता प्रह्लाद के पास चलेंगे। क्योंकि वह (तुम्हारा पिता) निश्चय ही पुत्र के लिए भी मिथ्या नहीं बोलेगा।

[पुरातन काल के आर्य्य सर्वत्र गुण का मान करते थे।]

विदुर उवाच—

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

विदुर ने कहा—इस भांति पण करके आवेश में आये हुए वे दोनों विरोचन तथा सुधन्वा वहाँ पहुँचे, जहां प्रह्लाद बैठा था।

प्रह्लाद उवाच—

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥
किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह ।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

प्रह्लाद ने कहा—ये वे दोनों साथ दिखाई दे रहे हैं, जो एक साथ कभी विचरण नहीं कर सके । क्रुद्ध दो सर्पों की भांति ये एक मार्ग से यहां आए हैं । [इतनी बात मन में कहकर अपने पुत्र विरोचन से कहा–] हे विरोचन ! तुम पहले तो साथ न विचरते थे, अब कैसे साथ विचरण कर रहे हो ? मैं पूछता हूं, क्या सुधन्वा के साथ तुम्हारी मित्रता हो गई है ?

विरोचन उवाच—

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे ।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

विरोचन बोला—मेरी सुधन्वा के साथ मैत्री नहीं है, हम दोनों ने प्राणों का पण लगाया है । हे प्रह्लाद ! वह बात आपसे पूछता हूं । प्रश्न का उत्तर मिथ्या न देना ।

[धर्म्मशास्त्र में विधान है—आत्मनाम गुरोर्नाम.........=अपना नाम, माता-पिता गुरु आदि बड़ों का नाम..,...नहीं लेना चाहिए । दैत्यों का आचार कदाचित् कुछ अन्य हो, तभी तो विरोचन के मुख से 'जनक' न कहलाकर 'प्रह्लाद' कहलाया गया है ।]

प्रह्लाद उवाच—

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने ।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरीकृता ॥ २६ ॥

प्रह्लाद बोला—सुधन्वा के लिए जल और मधुपर्क भी लाओ [अपने परिचारकों से इतना कहकर सुधन्वा से कहा—] हे ब्रह्मन् ! आप पूजनीय

हैं। श्वेत गौ भी हृष्टपुष्ट की हुई उपस्थित है। (ब्राह्मण को आदरार्थ भेंट देने के लिए यह प्राचीन आर्यप्रथा रही है।]

सुधन्वोवाच—

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम ।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
किं ब्राह्मणाःस्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद्विरोचनः ॥ २७ ॥

सुधन्वा ने कहा—हे प्रह्लाद ! जल और मधुपर्क तो मुझे मार्ग में ही (निर्णयार्थ चलने पर अथवा निर्णय के मार्ग पर) प्राप्त हो जाना है। तुम तो मुझ जिज्ञासु के प्रश्न का यथार्थ उत्तर दो—'क्या ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन श्रेष्ठ है ?'

प्रह्लाद उवाच—

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः ।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्रह्लाद बोला—मेरा एक ही पुत्र है, अथवा मेरा यह इकलौता पुत्र, और हे ब्राह्मण ! तुम भी साक्षात् सामने यहाँ उपस्थित हो। इन दोनों विवाद-कारियों के प्रश्न का उत्तर मेरे जैसा मनुष्य कैसे दे सकता है ? (जो विवाद में स्वयं तुम्हारे विरोधी का पिता है।)

[नीलकण्ठ के अतिरिक्त अन्य सभी टीकाकार 'पुरोधागमान्यो ब्रह्मँस्त्वं च साक्ष्य इह स्थितौ।' पूर्वार्ध का ऐसा पाठ मानते हैं। 'पुरोधाः' शब्द का अर्थ पुरोहित न करके 'पुत्र' अर्थ करते हैं। अर्जुनमिश्र यह भी कहते हैं, कि प्रायः पाठ–'पुत्र एक——' है। अर्थात् जो पाठ हमने दिया है, वह पाठ अधिक मिलता है। प्रह्लाद को वेदना यह है, कि मिथ्या बोलने से भी हानि है, और सत्य कहने से पुत्र के रूठने की आशङ्का है।]

सुधन्वोवाच—

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत्स्यात्प्रियं धनम् ।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

सुधन्वा बोला—तुम अपने पुत्र को गौ अथवा और जो कुछ अन्य प्रिय धन हो दे देना । हे मतिमन् ! हम दोनों के विवाद में तुम सत्य ही कहना ।

[अपने पुत्र को धन देकर तृप्त कर लेना, किन्तु मिथ्या न बोलना ।]

प्रह्लाद उवाच—

अथ यो नैव प्रब्रूयात्सत्यं वा यदि वाऽनृतम् ।
एतत्सुधन्वन्पृच्छामि दुर्विवक्तास्म किं वसेत् ॥ ३० ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे सुधन्वन् ! मैं यह पूछता हूं कि जो सत्य अथवा असत्य कुछ भी न कहे । और जो दुर्विवक्ता=अन्याययुक्त बात कहता है । वह क्या बसेगा ? अथवा किस दुःख को प्राप्त होगा ?

[२९ वें तथा ३० वें श्लोक के स्थान में लक्षाभरण नामक टीका के कर्त्ता वादिराज ने दस श्लोक अन्य माने हैं । वे ये हैं—

यदेतत्त्वं न वक्ष्यसि यदि वापि विवक्ष्यसि ।
प्रह्लाद प्रश्नमतुलं मूर्धा ते विफलिष्यति ॥ १ ॥

हे प्रह्लाद ! यदि तुम इस अनुपम प्रश्न का उत्तर न दोगे, अथवा उल्टा दोगे, तो तुम्हारा सिर फट जाएगा ।

विदुर उवाच—=विदुर ने कहा—

आदित्येन सहायान्तं प्रह्लादो हंसमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रं महाप्राज्ञं सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् ॥ २ ॥

आदित्य के साथ आए हुए सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महाबुद्धिमान् धृतराष्ट्र नामक हंस को प्रह्लाद ने कहा ॥

किसी किसी पोथी में 'धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ' पाठ है। तब यह विदुर का धृतराष्ट्र राजा को संबोधन है।

प्रह्लाद उवाच—=प्रह्लाद बोला—

पुत्रो वाऽन्यो भवेद् ब्रह्मन् चापि साक्ष्ये भवेत् स्थितः।
तयोर्विवदतोर्हंस कथं धर्म्मः प्रवर्तते ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन्! पुत्र हो अथवा कोई अन्य, यदि वह साक्ष्य में उपस्थित हो। हे हंस! उन दोनों के विवादकारी होने पर धर्म्म=न्याय कैसे प्रवृत्त होता है?

हंस उवाच—=हंस बोला—

गां प्रदद्यादौरसाय यद्वान्यत् स्यात्प्रियं धनम्।
द्वयोर्विवदतो राजन् प्रश्नं सत्यं वदेत् तथा ॥ ४ ॥

पुत्र को गौ अथवा जो अन्य प्रिय धन हो वह देवें। किन्तु हे राजन्! दो विवादकारियों के प्रश्न का सच्चा समाधान दे।

प्रह्लाद उवाच—प्रह्लाद बोला—

अथ यो नैव प्रब्रूयात्सत्यं वा यदि वानृतम्।
हंस तत्त्वं हि पृच्छामि कियदेनः करोति सः ॥ ५ ॥

यदि कोई सत्य अथवा असत्य कुछ न बोले, तो हे हंस! मैं आपसे पूछता हूं, वह कितना पाप करता है।

हंस उवाच—=हंस बोला—

पृष्टो धर्म्मं न विब्रूयाद् गोकर्णशिथिलं चरन् ।
धर्म्माद्भ्रश्यति राजंस्तु नास्य लोकोस्ति न प्रजाः ॥ ६ ॥

धर्म्म एतान् संसजति यथा नद्यस्तु कूलजान् ।
येऽधर्म्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ॥ ७ ॥

जो यथार्थ पूछने पर गौकर्ण के समान शिथिल (गौ के कानों की भांति ढीला ढाला) व्यवहार करता हुआ उल्टा बोले, हे राजन् ! वह धर्म-भ्रष्ट हो जाता है, उसका न यह लोक है और न सन्तान अथवा परलोक ॥ जो लोग अधर्म्म होता देखते हुए चुप चाप बैठे रहते हैं, धर्म्म उनको ऐसे नष्ट करता है, जिस प्रकार तीर पर उत्पन्न हुए वृक्षों को नदी ।

श्रेष्ठोऽर्धं तु हरेत्तत्र भवेत्पादश्च कर्तरि ।
पादस्तेषु सभासत्सु यत्र निन्द्यो न निन्द्यते ॥ ८ ॥
अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्तेपि सभासदः ।
कर्तारमेनो गच्छेद्वा निन्द्यो यत्र हि निन्द्यते ॥ ९ ॥

जहाँ निन्दनीय की निन्दा नहीं कीजाती वहां आधा पाप श्रेष्ठ उठाता है । चौथाई कर्त्ता को और चौथाई उन सभासदों को मिलता है ॥ किन्तु जहां निन्दनीय की निन्दा कीजाती है, श्रेष्ठ निष्पाप होता है, सभासद भी छूट जाते हैं, कर्त्ता को पाप लगता ही है ।

कर्त्ता का अर्थ है—निन्दनीय कर्म्म करने वाला ।

प्रह्लाद उवाच— =प्रह्लाद बोला—

मोहाद्वा चैव कामाद्वा मिथ्यावादं यदि ब्रुवन् ।
धृतराष्ट्र तत्त्वं पृच्छामि दुर्विवक्ता तु किं वसेत् ॥ १० ॥

मोह के कारण अथवा काम ही के कारण जो मिथ्या बोले । हे धृतराष्ट्र=हंस । सत्य पूछता हूं कि दुर्विवक्ता क्या दुःख प्राप्त करेगा ?

हंस उवाच—=हंस ने उत्तर दिया—

[ये श्लोक न भी हों, तो तत्त्वोपदेश में कोई अन्तर नहीं पड़ता। और बहुत से ये प्रक्षिप्त भी हैं। हंस का अर्थ ब्रह्मवेत्ता संन्यासी है। इसी प्रसंग के तीसरे श्लोक में हंस को प्रह्लाद ने 'ब्रह्मन्' पद से संबोधन किया है। अतः हंस पक्षी नहीं है।]

सुधन्वोवाच—=सुधन्वा ने कहा—

याँ रात्रिमधिविन्ना स्त्री याँ चैवाक्षपराजितः।
याँ च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म ताँ वसेत् ॥ ३१ ॥
नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान्भूयसः पश्येद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

अधिविन्ना (रात्रि के समय पति जिसको छोड़कर दूसरी स्त्री के पास जा रहे वह स्त्री) रात्रि को जो दुःख सहती है। जुए में हारा हुआ मनुष्य जिस प्रकार रात्रि को दुःखी होता है, और भार के कारण जिसका शरीर जल रहा है वह जैसे रात्रि बिताता है, उसी प्रकार दुर्विवक्ता मनुष्य रात्रि बिताता है॥ नगर में बन्द हुआ हुआ, अथवा द्वार के बाहर भूखा मनुष्य जो अनुभव करता है, अथवा जिसे बहुत शत्रु दिखाई पड़ रहे हों, [उनकी सी अवस्था उसकी होती है।] जो मिथ्या गवाही (साक्ष्य) देवे॥ पशु सम्बन्धी मिथ्या साक्ष्य में मानो पाँच पुरुषों की हत्या करता है। गौओं के सम्बन्ध में मिथ्या साक्ष्य से दश की हत्या करता है। अश्व सम्बन्धी मिथ्या साक्ष्य में सो की हत्या करता है और पुरुष सम्बन्धी अनृतसाक्ष्य से हजार की हत्या

करता है। सुवर्ण के लिए मिथ्या बोलने वाला अपने उत्पन्न अनुत्पन्न सभी पुत्रों की हत्या करता है। भूमि सम्बन्धी मिथ्या बोलने में सबकी हत्या करता है। अतः भूमि सम्बन्ध में अनृत कभी मत कहे॥

[३३, ३४ श्लोकों में धर्म्मशास्त्र के दंडविषयक विधान का उल्लेख है। समय समय पर उस विधान में परिवर्तन सम्भव है। केशिनी भूमि के तुल्य है।]

प्रह्लाद उवाच——=प्रह्लाद बोला—

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्त्वं तेन वै जितः॥ ३५॥
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
सुधन्वन्पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम्॥ ३६॥

हे विरोचन! अंगिरा (सुधन्वा का पिता) सचमुच मुझसे श्रेष्ठ है और सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है और इसकी माता तेरी माता से अधिक उत्तम है अतः तू इससे हार गया है। हे विरोचन! यह सुधन्वा तेरे प्राणों का ईश्वर=मालिक है। [इसके पश्चात् सुधन्वा से प्रह्लाद ने कहा—] हे सुधन्वन्! मैं तुमसे पुनः विरोचन को दान में माँगता हूं।

[प्रह्लाद ने सत्य कहकर तुरन्त उसका फल भी पा लिया।]

सुधन्वोवाच——=सुधन्वा बोला—

यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात्प्रह्लाद दुर्लभम॥ ३७॥
एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्कुमार्याः सन्निधौ मम॥ ३८॥

यतः तू ने धर्म्म को अंगीकार किया, पसन्द किया और कामवश होकर तूने मिथ्या नहीं बोला, अतः हे प्रह्लाद! मैं तेरे दुर्लभ पुत्र को तुझे

पुनः देता हूँ ॥ प्रह्लाद ! तेरा यह विरोचन मैंने तुझे दे दिया, अब यह मेरे सामने केशिनी के चरण धोवें ।

[विवाह समय में बधु वर एक दूसरे के चरणों को हल्दी से रंगा करते थे। प्रह्लाद के सत्यभाषण से प्रेरित होकर सुधन्वा ने केशिनी—जिसके कारण विरोचन तथा सुधन्वा में विवाद चला था—विरोचन के अर्पण कर दी ।

[हमारे विचार में यह पुरातन इतिहास—अर्थात् ५वें श्लोक से ३८वें श्लोक तक का प्रकरण—प्रक्षिप्त है । क्योंकि विदुर कहना तो यह चाहते हैं कि भूमि के निमित्त धृतराष्ट्र मिथ्या न बोले । यह बात ३४ वें तथा अगले ३९ वें श्लोक से स्पष्ट है । किन्तु इस इतिहास में भूमि के सम्बन्ध में विवाद न होकर केशिनी नामक एक स्त्री के एक प्रश्न के सम्बन्ध में है ।]

विदुर उवाच—विदुर बोला—

तस्माद्राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥ ३९ ॥

इसलिए, हे राजेन्द्र ! भूमि के लिए तुझे झूठ बोलना उचित नहीं है । पुत्र के लिए सत्य न बोलता हुआ (अर्थात् मिथ्या बोलता हुआ) तू पुत्रों और मन्त्रियों के साथ नाश को प्राप्त न हो ॥

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संविभजन्ति तम् ॥ ४० ॥

देव=दैवी शक्तियाँ अथवा लोकोपकारी महाजन, पशुपाल=चरवाहे की भाँति हाथ में दण्ड लेकर रक्षा नहीं करते हैं । जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसको बुद्धि से संयुक्त कर देते हैं ।

[इसी बात को गत अध्याय के ८१ वें श्लोक में दूसरे प्रकार से कहा है ।]

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः ॥ ४१ ॥

जैसे जैसे मनुष्य कल्याण में मन लगाता है, वैसे वैसे ही इसके सब कार्य्य सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ।

नैनं छन्दाँसि वृजिनात्तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा—
श्छन्दाँस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ४२ ॥

मायावी के प्रति माया से ठगी व्यवहार करने वाले को वेद भी पाप से नहीं तराते हैं, जिस प्रकार पक्ष पैदा होने पर पक्षी घौंसले को छोड़ देते हैं, वैसे ही अन्त समय में वेद इसका त्याग कर देते हैं ।

[किसी ने कहा है—आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः । आचारहीन को वेद पवित्र नहीं करते ।]

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम् ।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ॥ ४३ ॥

मद्य का पीना, झगड़ा, समुदाय से वैर, पति की जुदाई, नातेदारों की फूट, राजा से द्वेष, स्त्री पुरुष का झगड़ा, और अत्यन्त दुष्ट मार्ग इनको त्याज्य कहते हैं ।

[अर्जुन मिश्र 'मद्यपानं' के स्थान में 'मत्तापानम्' पाठ मानते हैं । 'मद्यपानं कलहम्' इत्यसम्यक्—वे लिखते हैं । अर्थात् 'मद्यपान' पाठ अशुद्ध है । 'मत्तापानम्' मदमस्त शराबियों की गोष्ठी ।]

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान्साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ।। ४४ ।।

समुद्र के व्यपारी, जो पहले चोर रहा हो, पांसों में धूर्त, चिकित्सक, शत्रु, मित्र तथा नट इन सात को साक्ष्य में प्रमाण न माने ।

[कहीं 'चोरपूर्वम् के स्थान में 'चोरपूगं' पाठ है, उसका अर्थ है चोरों का चौधरी ।]

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।। ४५ ।।

प्रमाणपूर्वक अग्निहोत्र तथा मानपूर्वक मौन, प्रमाण से अध्ययन तथा परिमाणयुक्त यज्ञ, ये चारों निर्भय करने वाले हैं, किन्तु विधि-विरुद्ध किये हुए ये भय देने वाले हो जाते हैं ।

[यह श्लोक पाठ भेद से, आगा पीछा करके प्रथमाध्याय में ७३वाँ है । वह इस प्रकार है—चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि । मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत्त मानयज्ञः ।।' अर्थ इसके समान है।]

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुवपारदारिकः ।। ४६ ।।
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात्पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ।। ४७ ।।

स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात्सर्वे ब्रह्महभिः समाः ॥ ४८ ॥

दूसरों का घर जलाने वाला, विषदाता, कुण्डाशी=व्यभिचार से जीविका करने वाला, सोम बेचने वाला, पर्वकार=आयुध बनाने वाला, सूची=पिशुन=चुगली करने वाला, मित्रद्रोही, पर स्त्रीगामी, भ्रूणघाती, गुरुतल्पी=गुरु की स्त्री से व्यभिचार करने वाला, तथा मद्यपान करने वाला द्विज, अत्यन्त तीक्ष्ण=कठोर, काक=अपवित्र, नास्तिक=परलोक ईश्वरादि का अविश्वासी, वेदनिन्दक, हर समय स्रुवा पकड़े रहने वाला अर्थात् पात्रापात्र का विचार किये विना यज्ञ कराने वाला, व्रात्य=व्रतरहित संस्कार-भ्रष्ट, पापभोजी, समर्थ होता हुआ 'मेरी रक्षा करो' ऐसा कहने पर भी जो हिंसा करे अर्थात् शरणागत का घाती—ये सब ब्रह्म हत्यारे के समान माने जाते हैं ।

[कुण्डाशी शब्द कुण्ड तथा अशी शब्दों के मेल से बनता है । 'कुण्ड' यह एक पारिभाषिक शब्द है । पति के जीते रहते व्यभिचार से उत्पन्न सन्तान का नाम कुण्ड है । उसके द्वारा खाने वाला अर्थात् निर्वाह करने वा ना, इसी लिए हम ने 'व्यभिचार से निर्वाह करने वाला' अर्थ किया है । अथवा कुण्ड का अन्न खाने वाला । किसी किसी ने कुण्ड भर खाने वाला= अर्थात् बहुत खाने वाला अर्थ माना है, वह अशुद्ध है । पर्वकार का अर्थ किसी किसी ने 'अमावस्या पौर्णमासी आदि पर्वों में शुल्क लेकर यज्ञ कराने वाला' किया है, वह भी असंगत है । किसी किसी ने 'पर्ववेदकः' पाठ माना है उसका अर्थ है—पर्व बताने वाला । दक्षिणा के विना तो यज्ञ को नष्ट माना गया है । अतः यज्ञ में दक्षिणा=शुल्क अविहित नहीं है । सूची शब्द का अर्थ किसी व्याख्याकार ने 'नक्षत्रादि की सूचना देने वाला ज्योतिषी' ऐसा किया है । अर्थात् नक्षत्र ग्रह आदि की चाल बताकर जनता को भयभीत करता फिरे, यह अर्थ बहुत संगत है । मिथ्या भय दिलाने वाला सचमुच महापापी है । काक शब्द का एक भाव यह भी हो सकता है—काक की भांति

दूसरों के क्षतों=घावों को कुरेदने वाला, अर्थात् दुःखित को और दुःख देने वाला। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है–'तीर्थों में दान लेनें वाला।' स्रुवप्रग्रहण का अर्थ नीलकण्ठ के मतानुसार 'राजकीय वृत्तबलेन सर्वेभ्यो वणिग्भ्यः स्रुवेण धान्यादिकमादत्ते। खोंचीग्राहक इति भाषायां प्रसिद्धः' अर्थात् राज्याश्रय के बल से जो सब बनियों से स्रुवा के द्वारा अन्नादि ले, भाषा में उसे खोंचीग्राहक कहते हैं। इसका नीलकण्ठ तथा अन्यों ने 'ग्राम-याजक' अर्थ किया है, वह अनुचित है। किसी ने 'सुराप्रहायणः' पाठ माना है। उसका अर्थ है–'सुरां पुष्पाग्रं छित्वा हापयति त्याजयति'=जो फूलों का अग्रभाग काट कर फिकवाए। भ्रूणहा का अर्थ गर्भ अथवा गर्भिणी स्त्री का हत्यारा। भ्रूण का एक अर्थ है–वेदशाखा का पढ़ने वाला, उसका घातक भ्रूणहा। यह अर्थ सदा संगत नहीं है, क्योंकि इससे भ्रूणहा का अर्थ ब्रह्महा =वेदघाती बनता है। इन श्लोकों में वेदघाती के समान पापियों की गणना की जा रही है, अतः यह अर्थ यहां युक्त नहीं है। कीनाश का अर्थ किसान भी होता है, उसे पापी बतलाने वाला स्वयं पापी है। अर्जुन मिश्र ने जो अर्थ किया है वह, संगत प्रतीत होता है —'कीनं पापं तेन सह अश्नाति'= पाप के साथ भोजन करने वाला। 'कीनाश' पद का अर्थ क्रूर, राक्षस, माँस-भोजी भी है। अर्जुन मिश्र 'आत्मवान्' के स्थान में 'अन्नवान्' पाठ पढ़ते हैं। अर्थात् अन्न होने पर दान दिये विना, दूसरे को खिलाए बिना खाने वाला' ऐसा अर्थ बनेगा। वेद में 'केवलाघो भवति केवलादी' का यह अनुवाद है।]

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४६ ॥

अन्धकार में तिनकों की आग से भी जातरूप=रूपवान पदार्थ जान लिये जाते हैं। वृत्त से=सदाचार से भद्र=भला मनुष्य तथा व्यवहार से

साधु=सज्जन, भय में शूर, अर्थसंकट में धीर, कठोर आपत्ति में मित्र तथा शत्रु जाने जाते हैं।

['वृत्तेन साधुः' के स्थान में 'युगेन भद्रः' कहीं कहीं पाठ है। उसका अर्थ है—'जुए से बैल पहचाना जाता है। 'वृत्तेन भद्रः' का अर्थ चरित्र से धर्म्म जाना जाता है' भी होता है।]

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥

बुढ़ापा रूप को हरता है, आशा धैर्य्य को, मृत्यु प्राणों को, असूया धर्माचरण को, क्रोध शोभा को, अनार्य्य सेवा—दुष्टों की संगति—शील को, काम—विषयाभिलाषा का वेग लज्जा को, और अभिमान सब कुछ को हरता है।

श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्सम्प्रवर्धते।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

श्री=शोभा=लक्ष्मी माङ्गल्य से उत्पन्न होती है, प्रगल्भता=प्रौढ़ता से बढ़ती है, दक्षता के कारण जड़ जमाती है और संयम=मितव्ययता से ठिकाना करती है।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

एतान्गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥ ५३ ॥

बुद्धि, कुलीनता, दम=इन्द्रियनिग्रह, अध्ययन, पराक्रम, मितभाषण, यथाशक्ति दान तथा कृतज्ञता ये आठ गुण पुरुष को चमकाते हैं ॥ हे तात ! इन महातेजस्वी गुणों को एक गुण बलात् आश्रित करता है। जब राजा मनुष्य को (इन आठ गुणों वाले मनुष्य को) सत्कृत करता है, तब यह गुण (राजकृत सत्कार) इन सब गुणों को चमकाता है ॥

[अर्जुन मिश्र के मत से 'विभाति' के स्थान में 'अतिभाति' पाठ है, उसका अर्थ है—इन सब गुणों की अपेक्षा अधिक चमकता है। एक टीका-कार ने प्रथम चरण का पाठ 'प्रतिसंहृतैः स्वयं वर्तमानः' ऐसा माना है। इसका अर्थ है, उक्त गुणों के न होते हुए भी उनको बलात् ले आता है। ५२ वां श्लोक प्रथम अध्याय का ९९ वाँ है !]

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि—
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥

हे राजन् ! ये आठ गुण मनुष्य-जगत में स्वर्गलोक [सुख प्राप्त कराने

के साधन] के निदर्शन हैं। इनमें से चार तो सज्जन पुरुषों के पीछे चलते हैं, और इन में से चार का सज्जन अनुगमन करते हैं॥ यज्ञ, दान, अध्ययन तथा तप ये चार तो सज्जनों के पीछे चलते है, अर्थात् उनसे नित्य संलग्न हैं। दम, सत्य, आर्जव तथा दया इन चार का सज्जन अनुगमन करते हैं॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥ ५६॥
तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति॥ ५७॥

यज्ञ, अध्ययन (वेदाध्ययन), दान, तप, सत्य, क्षमा, दया तथा अलोभ—यह धर्म्म का आठ प्रकार का मार्ग है॥ उनमें पहला चतुवर्ग (यज्ञ, अध्ययन, दान तथा तप) दम्भ के लिए भी सेवन किया जाता है। अगला चतुर्वर्ग अर्थात् सत्य, क्षमा, दया, अलोभ अमहात्माओं=दुष्टों दुर्जनों में कभी नहीं रहता।

[तात्पर्य यह है,कि जीवन में सत्य, क्षमा=अहिंसा, दया तथा अलोभ के बिना यज्ञादि चार पाखण्ड हो जाते हैं।]

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥ ५८॥

वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध नहीं हैं, वे वृद्ध नहीं जो धर्म्म का कथन नहीं करते, और वह धर्म्म नहीं है जिसमें सत्य नहीं है, और वह सत्य नहीं है जो छल से निरहित नहीं है।

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥

सत्य, रूप=सुन्दरता अथवा विनयमुद्रा, श्रुत=अध्ययन, विद्या=कर्त्तव्यज्ञान अथवा भगवद्भक्ति, कौल्य=कुलीनता अथवा कुलाचार सम्पन्नता, शील, बल, धन, शूरता, तथा चित्रभापिता=विचित्र-विचित्र बातें सुनाना अथवा युक्तियुक्त बात कहना, ये दस स्वर्ग के कारण हैं ।

['दशेमे स्वर्गयोनयः' के स्थान में कहीं कहीं 'दश संसर्गजा गुणाः' पाठ है । उसका अर्थ है–ये दश गुण संसर्ग=सत्संग से उत्पन्न होते हैं । कहीं कहीं 'दश संसर्गयोनयः' पाठ है, उसका भी अर्थ यही है । अथवा यह अर्थ हो सकता है—ये दश संसर्ग के कारण हैं, अर्थात् ये दश अन्य संसर्ग से उत्पन्न होते हैं ।]

पापं कुर्वन्पापकीर्त्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्त्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ॥ ६० ॥
तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६२ ॥
वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यस्थानं स्म गच्छति ।
तस्मात्पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥ ६३ ॥

पाप करने वाला मनुष्य पापकीर्ति (कलंकित प्रसिद्धि वाला होकर) पाप फल को ही प्राप्त करता है। पुण्य करने वाला पवित्र कीर्ति वाला होकर अत्यन्त पुण्य को प्राप्त करता है। अतः संशितव्रत=पवित्रव्रत वाला मनुष्य

पाप न करे । बार बार किया जाता पाप बुद्धि का नाश करता है ।। नष्ट-प्रज्ञ (पाप के कारण जिसकी बुद्धि नष्ट हो चुकी है, वह) नित्य पाप ही करता है। बार-बार किया जाता हुआ पुण्य बुद्धि को बढ़ाता है ।। बढ़ी हुई बुद्धि वाला मनुष्य नित्य पुण्य ही करता है, और पुण्य करता हुआ पवित्र कीर्ति वाला होकर पुण्य-स्थान को प्राप्त करता है। अतः मनुष्य अत्यन्त सावधान होकर पुण्य का निरन्तर सेवन करे ।।

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात्पापमाचरन् ।। ६४ ।।

परनिन्दक, दन्दशूक=दूसरों के मर्मस्थलों पर चोट करने वाला, निष्ठुर, वैरी, शठ, पापकारी शीघ्र ही महान् कष्ट को प्राप्त करता है ।।

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ।। ६५ ।।

परनिन्दा न करने वाला, बुद्धिमान्, सदा उत्तम आचरण करने वाला महासंकट को प्राप्त नहीं करता और सर्वत्र शोभा पाता है।

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ।। ६६ ।।

जो बुद्धिमानों से बुद्धि ही प्राप्त करता है, वह पण्डित है। बुद्धिमान् मनुष्य धर्म्म तथा अर्थ को प्राप्त करके सुख बढ़ा सकता है ।।

दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ।। ६७ ।।

दिन में ही वह कार्य मनुष्य करले, जिससे रात्रि को सुख से सो सके। आठ महीनों में वह करले, जिससे वर्षा में सुख से रह सके ।।

पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

पहले आयु में वह कार्य्य करे, जिससे बूढ़ा होकर सुख से रह सके। जीवन भर वह करे, जिससे मर कर सुख से रहे ॥

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥

पचे हुए भोजन की प्रशंसा करते हैं। बूढ़ी पत्नी की प्रशंसा करते हैं। युद्ध जीतने वाले शूर की प्रशंसा करते हैं। तथा पारप्राप्त (जीवन्मुक्त) तपस्वी की प्रशंसा करते हैं।

['विजितसंग्रामम्' के स्थान में सर्वज्ञनारायण ने 'विगतसंग्रामम्' पाठ माना है। उसका अर्थ है—संग्राम जीत कर लौटा हुआ।

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवधीयते ॥ ७० ॥

अधर्म्म द्वारा प्राप्त धन से जो छिद्र ढांका जाता है, वह नंगा हो जाता है, उससे दूसरा छिद्र फटता है।

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥

आत्मवानों—मन तथा इन्द्रियोंको जीत चुके हुए मनुष्यों—का शास्ता = उपदेष्टा नियन्ता गुरु है। दुष्टों का नियन्ता राजा है और गुप्त रूप से पाप करने वालों का नियन्ता, वैवस्वत यम = सब का वासक = सबके हृदय में बसने वाला अन्तर्यामी परमात्मा है।

[कई लोगों ने 'वैवस्वत यम' का अर्थ सूर्य्यपुत्र यम किया है। वह

अशुद्ध है । 'वैवस्वत' का अर्थ है—विवस्वान् स्वयं, सूर्य्य, सूर्य्यपुत्र, सूर्य्य-सम्बन्धी । विवस्वान् का अर्थ है—सबको बसाने वाला । सूर्य्य का अर्थ है चराचर का आत्मा 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजु. ७।४२), यम का अर्थ है—भीतर रहकर नियन्त्रण करने वाला । अतः हमारा किया अर्थ वैदिक होने से साधु है ।]

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ।। ७२ ।।

ऋषियों का, नदियों का, महात्माओं के कुलों का तथा स्त्रियों के दुराचार का कारण जानने का यत्न नहीं करना चाहिए ।

[नदियों का प्रभव=उत्पत्ति बहुत छोटा होता है । उसे देखकर नदी की लघुता नहीं मानी जाती । यह दृष्टान्त है । इसी भाँति ऋषियों एवं महामनुष्यों के कुलों की छानबीन की आवश्यकता नहीं है । तथाकथित हीन कुलों में भी ऋषियों तथा महात्माओं के जन्म हुए हैं, और होते हैं, तथा आगे भी होंगे । स्त्रियों के दुराचार का कारण पुरुष होते हैं, अथवा कोई बहुत छोटा हेतु होता है ।]

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ।। ७३ ।।

हे राजन् ! ब्राह्मणों की पूजा में संलग्न, दाता, संबन्धियों के प्रति सरल व्यवहार करने वाला, शीलवान् क्षत्रिय चिरकाल तक पृथिवी (राज्य) का पालन करता है ।

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।। ७४ ।।

सुनहरी फूलों वाली पृथिवी से तीन मनुष्य पुष्प चुन सकते हैं—१-

शूर २, विद्वान् तथा ३, जो सेवा करना जानता है।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च॥ ७५॥

हे भारत ! बुद्धि से सिद्ध होने वाले कर्म्म श्रेष्ठ होते हैं। बाहु=भुजबल से सिद्ध होने वाले मध्यम, जंघा से=भागदौड़ से अथवा लुक-छिप कर किये जाने वाले जघन्य=अधम, तथा जिनसे सिर पर भार=संकट आ पड़े, अर्थात् संकट में डालने वाले नीचतर कर्म्म होते हैं।

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि॥ ७६॥

दुर्योधन तथा मूढ़ शकुनि तथा दुःशासन और कर्ण पर राज्यभार डाल कर तुम कैसे कल्याण की कामना करते हो ?

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पांडवा भरतर्षभ।
पितृवत्त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्त्तस्व पुत्रवत्॥ ७७॥

हे भरतर्षभ ! सभी गुणों से युक्त पाण्डव आपके प्रति पितृ समान व्यवहार करते हैं, अतः आप भी, उनके प्रति पुत्र समान बर्ताव करें।

[विमलबोध की दुर्घटार्थ प्रकाशिका टीका तीसवें श्लोक पर समाप्त हुई है। अर्थात् विमलबोध के समय इस अध्याय में केवल तीस श्लोक थे। सूक्ष्मता से विचारने पर प्रतीत होता है, कि अगले श्लोक प्रायः भरती के हैं। कई श्लोक पूर्व अध्यायों के हैं, कई शब्दभेद करके पुनः उपात्त हुए हैं।]

॥ इति विदुरनीतौ तृतीयोऽध्यायः॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

विदुर उवाच=विदुर बोला—

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥
चरन्तं हंसरूपेण महर्षि संशितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

इस विषय में आत्रेय और साध्यों के संवादरूप इस पुरातन इतिहास को दृष्टान्त के रूप में कहते हैं, ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है। हंसरूप से विचरते हुए तीव्रव्रतों वाले, महाबुद्धिमान् महर्षि [आत्रेय] से पुराने समय में साध्यदेवों ने पूछा। [यह और इसके आगे के श्लोक पिछले अध्याय में होने चाहिएं थे। वास्तव में बात यह है, कि पिछले अध्याय के साथ ही विदुर का उपदेश समाप्त हो चुका। और धृतराष्ट्र को भी कुछ पूछना शेष न रहा। अन्यथा यहाँ धृतराष्ट्र की ओर से प्रश्न होना चाहिए था। इससे पूर्व प्रथमाध्याय की समाप्ति के पश्चात् द्वितीय अध्याय का आरम्भ तथा तृतीयाध्याय का आरम्भ भी 'धृतराष्ट्र उवाच' से किया गया है। इससे आगे केवल एक अध्याय के बिना शेष सब अध्यायों का आरम्भ 'विदुर उवाच' से किया गया है, जो उचित नहीं जंचता। अतएव विदुरनीति का अंग भी नहीं बनता प्रतीत होता] [हंस का अर्थ संन्यासी होता है]

साध्या ऊचुः=साध्य बोले—

साध्या देवा वयमेते महर्षे,
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।

श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यो वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥

हे महर्षे ! ये हम साध्य देव आपके दर्शन करके अपने में समा नहीं सकते [अथवा आपकी योग्यता का अनुमान नहीं कर सकते] । आप ज्ञान के कारण हमारे मत से धीर तथा बुद्धिमान् है, अतः काव्य=वेदसम्बन्धी उदारवाणी कहने के योग्य हैं ।

हंस उवाच=हंस बोला—

एतत्कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी ।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥

हे देवो ! मैंने अपने बड़ों से यह कर्त्तव्य सुना है—धृति (धैर्य), शम =शान्ति, अथवा क्षमा तथा सत्य धर्म का निरन्तर पालना, इनके द्वारा हृदय की ग्रन्थि को पूर्णतया खोलकर प्रिय और अप्रिय अर्थात् मित्र और वैरी के साथ अपने समान वर्ताव करे ॥४॥ गाली खाता हुआ भी गाली न दे, क्यों- कि तितिक्षु=सहनशील का मन्यु, गाली देने वाले को जला देता है, तथा गाली देने वाले के पुण्य को यह प्राप्त कर लेता है ॥५॥ मनुष्य न गाली

देने वाला हो और नहीं दूसरों का तिरस्कार करने वाला हो, न ही मित्र-द्रोह करे, और न नीच का सेवक होवे। न ही अभिमानी होवे और न हीन वृत्त [inferiority complex] वाला होवे, रूखी कठोर वाणी का सदा त्याग करे। ॥६॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथाऽसून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद्वाचमुशतीमुग्ररूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥ ८ ॥

इस जगत में रूखी वाणियां मनुष्यों के मर्मों, हड्डियों, हृदय तथा प्राणों को सर्वथा जला देती हैं। अतः धर्मप्रेमी, जलाने वाली रूक्षरूप वाणी का सदा त्याग करे ॥७॥ मर्मघाती, कठोर रूखे वचनों वाले तथा वाणी रूपी कण्टकों से मनुष्यों को दुखाने वाले मनुष्य को, मनुष्यों में सबसे अधिक अलक्ष्मीक=अभागा, तथा मुख में संलग्न निर्ऋति=पाप को धारण करने वाला जाने ॥८॥

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै—
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात्कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥

दूसरा=विरोधी यदि इसे लगातार सूर्य एवं अग्नि के समान जाज्वल्य-

मान अत्यन्त तीखे वाणिबाणों से बींधे, तो वह बींधा जाता हुआ ज्ञानी अत्यन्त जलाया जाकर भी यह समझे, कि यह मेरे सुकर्म्मों का संचय कर रहा है।

[टीकाकार सर्वज्ञनारायण ने 'विदह्यमानः' के स्थान में 'विरिच्यमानः' पाठ माना है। अर्थ है—हीन किया जाता हुआ, हलका किया जाता हुआ, तिरस्कार पाता हुआ। 'अतिदह्यमानः' के स्थान में 'अतिरिच्यमानः' पाठ है। अर्थ है=पूजा प्राप्त करता हुआ]

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्
योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ ११ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत्तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

यदि सज्जन की सेवा करता है अथवा असज्जन की, तपस्वी की अथवा चोर ही की सेवा करता है। वह उनके (सेव्यों के) वश में वैसे ही हो जाता है, जैसे वस्त्र रंग के अधीन हो जाता है [किसी के सम्बन्ध में] न

स्वयं अतिवाद=अत्युक्ति करे, और न दूसरे से कराए। जो मनुष्य चोट खाकर भी न तो चोट करे और न दूसरे से कराये, और पापी को भी नहीं मारना चाहता, उसके आने पर देव=निष्काम ज्ञानी भी उसकी स्पृहा करते हैं ॥१०-११॥ बोलने से न बोलने को अधिक अच्छा मानते हैं। यदि बोला हुआ सत्य है, वह दूसरा है अर्थात् उससे श्रेष्ठ है। यदि सत्य कथन को प्रिय करके कहे, तो वह तृतीय है अर्थात् अधिक श्रेष्ठ है। यदि सत्य तथा प्रिय वचन को धर्मयुक्त करके बोले तो वह चतुर्थ है, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है ॥१२॥ मनुष्य जैसों के साथ उठता-बैठता है और जैसों की सेवा मेल मिलाप करता है, और जैसा होना चाहता है वैसा ही हो जाता है ॥१३॥

[८ से १२ तक श्लोकों में संग का फल, यथार्थ फल का वर्णन किया गया है। वेद में कहा है—वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान्=बोलने वाला ज्ञानी न बोलने वालों से श्रेष्ठ है। यह श्लोक उसकी व्याख्या-सी है। मनु जी ने कहा है—(क) मौनात्सत्यं विशिष्यते (ख) सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् (ग) यच्छलेनानभ्युपेतम्–अर्थात् (क) मौन की अपेक्षा सत्य बोलना अच्छा है। (ख) सत्य बोले किन्तु प्रिय मीठा बोले (ग) वह भी ऐसा जो छल से युक्त न हो।]

यतो यतो निवर्त्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्त्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

जहाँ जहाँ से मनुष्य हटता है, वहाँ वहाँ से छूट जाता है। सब ओर से हट जाने पर दुःख का अणुमात्र भी अनुभव नहीं करता ॥१४॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्
न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥
नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपुरुषः ॥ १७ ॥
दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्त्तते मन्युवशात्कृतघ्नः।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥
न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥

जो किसी से न हारता है और न दूसरों को जीतना चाहता है, न किसी से वैर करता है और न किसी से प्रतिघात करता है। निन्दा तथा प्रशंसा में एकसा स्वभाव रखता है, और न हो शोक करता है, और न हर्ष करता है ॥१५॥ सब का कल्याण चाहता है, किसी के अकल्याण के लिए मन=विचार तक नहीं करता, और जो सत्यवादी, मृदु—कोमल-स्वभाव वाला तथा जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष है ॥१६॥ जो झूठमूठ की सान्त्वना नहीं करता है, प्रतिज्ञा करके देता ही है। दूसरे के छिद्र को जानता है, वह मध्यम पुरुष है ॥१७॥ जिसका शासन=शिक्षण=नियन्त्रण कठिन हो, जो उपहत हो=अभागा हो, जो सब ओर से निन्दित हो और क्रोध के अधीन हुआ सरल न बने, जो कृतघ्न हो, जो किसी का मित्र न होकर भी दुरात्मा हो, अधम पुरुष की यह कलाएं हैं ॥१८॥ दूसरों से अपने विषय में सशङ्क हुआ जो कल्याण पर विश्वास नहीं करता, मित्रों का जो निराकरण करता है, वह अधम पुरुष है ॥

[१८ वां श्लोक निश्चित प्रक्षिप्त है, उत्तम, मध्यम के सीधे-सादे

लक्षणों के पश्चात् १९ वाँ ही अधम का सीधासादा लक्षण है। इस १८ वें श्लोक में दुःशासन पद को देख कर कई टीकाकारों ने दुःशासन के लक्षणों द्वारा अधम पुरुष के लक्षण की चर्चा करना चाही है। उनके अर्थ को मान लेने पर तो यह प्रक्षिप्त ही ठहरता है। क्योंकि दुःशासन की अपेक्षा अधिक उपालम्भ का पात्र दुर्योधन था। किसी भांति इसको यहाँ रखना ही हो, तो इसका अर्थ वह है जो हमने दिया है; क्योंकि लक्षण अधम पुरुष का होना चाहिए, न कि व्यक्ति विशेष का।]

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान्।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥ २०॥

उत्तमों का ही सेवन करे=संग करे। समय [=कुसमय आपत्ति आदि] आ पड़ने पर मध्यमों का संग करले; किन्तु अधमों का सेवन कभी न करे, जो अपना कल्याण चाहे॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात्प्रज्ञया पौरुषेण।
न त्वेव सम्यग्लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम्॥ २१॥

धन तो असद् बल (छल कपट आदि) से, नित्य उद्योग से, बुद्धि तथा पौरुष=सेना चाकरी आदि से प्राप्त हो जाता है। किन्तु इस प्रकार से न तो प्रशंसा प्राप्त करता है और न ही महाकुलों=बड़े घरों के वृत्त=सदाचार=मर्यादा को मनुष्य प्राप्त कर पाता है॥

धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र बोला—

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च।
पृच्छामि त्वां विदुर! प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि॥ २२॥

बड़े घरों=अथवा कुलीनों की तो धर्म्मार्थ में सदा तत्पर, महाविद्वान् देव=निष्काम ज्ञानी भी स्पृहा करते हैं। हे विदुर ! मैं यह प्रश्न तुम से पूछता हूं, कि महाकुल कौन होते हैं।

विदुर उवाच=विदुर बोला—

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥
येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

तप, दम=इन्द्रिय दमन, ब्रह्मवित्त =वेदरूपी धन, यज्ञ, पवित्र विवाह, निरन्तर अन्न दान, तथा सदाचार ये सात गुण जिनमें रहते हैं, वे महाकुल हैं। २३॥ जिनका चरित विचलित नहीं होता और न जहाँ माता पिता दुःखी होते; जो चित्त की प्रसन्नता से धर्म्म का आचरण करते हैं, और जो अपने कुल की विशेष कीर्ति चाहते हैं, जो मिथ्या का त्याग कर चुके हैं, वे महाकुल हैं ॥२४॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥
देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ २९ ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥
गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

यज्ञ न करने से, कुविवाहों से, वेद के उच्छेद से तथा धर्म्म के उल्लंघन से कुल अकुल हो जाते हैं ॥५॥ देव-द्रव्य के विनाश से [अर्थात् यज्ञादि के निमित्त, अथवा विद्वत्सेवा के निमित्त द्रव्य को दूसरे कार्य्य में लगाने से] और ब्राह्मण का धन छीनने से, तथा ब्राह्मण का तिरस्कार करने से कुल अकुल हो जाते हैं ॥२६॥ हे भारत ! ब्राह्मणों को दबाने तथा उनकी निन्दा करने तथा न्यास (अमानत) के अपहरण (न लौटाने) से कुल अकुल हो जाते हैं ॥२७॥ जो कुल चरित्र से हीन हैं, वे कुल गौओं, मनुष्यों तथा धन से सम्पन्न होते हुए भी कुल संज्ञा को प्राप्त नहीं करते ॥२८॥ थोड़े धन वाले होते हुए भी, चरित्र से अहीन कुलसंज्ञा को प्राप्त करते हैं, और महान् यश को आकृष्ट करते हैं, ॥२९॥ अतः यत्नपूर्वक चरित्र की रक्षा करे । धन तो आता है और जाता है । धन से क्षीण होने पर भी [वृत्त संपन्न मनुष्य] अक्षीण है, किन्तु चरित्रभ्रष्ट मनुष्य धन संपन्न होने पर भी नष्ट हैं ॥३०॥ गौओं, पशुओं घोड़ों तथा उत्तम समृद्ध खेती के द्वारा भी वे कुल नहीं फलते फूलते जो चरित्रहीन हैं ॥३१॥

मा नः कुले वैरकृत्कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

[सत्पुरुष ऐसी कामना किया करते हैं कि] हमारे कुल में कोई बैरी न हो, राजा तथा मन्त्री परधनापहारी न होवे, मित्र-द्रोही, दूसरों का तिरस्कार करने वाला, झूठा, पितृयज्ञ, देवयज्ञ तथा अतिथियज्ञ करने से पूर्व खाने वाला कोई न हो ।

[अथर्ववेद ९।६ (३) में अतिथि से पूर्व खाने में दोष बताकर कहा "एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात् । अशितवत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतम् ॥ (९।६(३)७-८) यह जो श्रोत्रिय=वेदपाठी है, वह ही अतिथि है, उससे पूर्व न खाए, यज्ञ की सात्मता=सफलता तथा यज्ञ की पूर्णता के लिए, अतिथि के खा लेने पर खाए । यह व्रत है । इसी प्रकार देवयज्ञ तथा पितृयज्ञ करने के उपरान्त खाने का विधान है ।]

यश्च नो ब्राह्मणान्हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान्द्विषेत् ।
न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ॥३३॥

जो हमारे ब्राह्मणों का घात करे, जो हमारे ब्राह्मणों से द्वेष करे और जो हमारी खेती [अन्याय आदि से] काटले, वह हमारी समिति में न आ जा सके ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥
श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

आसन, भूमि, जल तथा चौथी मीठी वाणी ये सज्जनों के घरों में कभी नष्ट नहीं होते ॥ हे महाप्राज्ञ राजन्! पुण्यकर्मी धर्मियों के उत्तम चरित उत्तम श्रद्धा के द्वारा सत्कार को प्राप्त होते हैं।

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

हे राजन्! रथ छोटा होता हुआ भी जिस प्रकार भार ढोने में समर्थ होता है, उस प्रकार अन्य वृक्ष अथवा उनके अंग काठ आदि भार नहीं उठा सकते। ऐसे ही उद्योगी महाकुलीन जन भार सहन कर सकते हैं, अन्य साधारण मनुष्य नहीं ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति
यद्वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम्।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद्वै मित्रं संगतानीतराणि ॥ ३७ ॥
यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत्परायणम् ॥ ३८ ॥

वह मित्र नहीं है जिसके कोप से मनुष्य डरे, अथवा शङ्का से सेव्य मनुष्य भी मित्र नहीं होता। जिस मित्र पर पिता की भांति भरोसा किया जा सके, वही मित्र है, अन्य मेली हैं ॥३७॥ जो किसी प्रकार से सम्बन्धी न होता हुआ भी मित्रभाव से वर्ताव करे, वही बन्धु है, वही मित्र है, वही गति है तथा परायण=उत्तम आश्रय सहारा है ॥३८॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥

चंचल चित्त वाले, तथा वृद्धों की सेवा न करने वाले, तथा चञ्चल-मति मनुष्य के लिए मित्रों का संग्रह अनिश्चित है ॥३९॥ चञ्चल स्वभाव वाले, इन्द्रियों के वशवर्त्ती, अनात्मन्वी मनुष्य के साथ इसप्रकार का व्यवहार करते हैं, जैसा हंस सूखे तालाव के साथ ॥४०॥ [अर्थात् जैसे हंस सूखे तालाव को छोड़ जाते हैं, ऐसे ही धन ऐश्वर्य उक्त मनुष्यों का परित्याग कर जाते हैं]

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥

जो कारण के बिना क्रुद्ध हो जाएं और कारण के बिना ही प्रसन्न हो पड़ें; चञ्चल मेघ के समान यह असज्जनों का शील होता है ।

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

[मित्रों से] सत्कार पाकर भी, सफल मनोरथ होकर भी जो मित्रों के नहीं बनते हैं, उन कृतघ्नों को मरने पर क्रव्याद—कच्चा मांस खाने वाले पक्षी भी नहीं खाते हैं ॥४२॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति व धने ।
नानर्थयन्प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

धन हो अथवा न भी हो, मित्रों का सत्कार करे ही, क्योंकि प्रार्थना-शून्य मनुष्य मित्रों के सार तथा फोके पन को नहीं जान पाता ॥

सन्तापाद् भ्रश्यते रूपं सन्तापाद् भ्रश्यते बलम् ।
सन्तापाद् भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद् व्याधिमृच्छति ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरे चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ।। ४५ ।।

शोक से रूप नष्ट होता है, शोक से बल ज्ञान नष्ट होता है, शोक से रोग को प्राप्त होता है ।।४४।। प्राप्त न होने योग्य वस्तु शोक से तो प्राप्त हो नहीं सकती, हां शरीर तपता है और शत्रु हंसते हैं, अतः शोक में मन मत लगा ।।४५।।

पुनर्नरो म्रियते जायते च पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च,
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ।। ४६ ।।
सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ।। ४७ ।।

मनुष्य बार बार मरता है और जनमता है, मनुष्य बार बार घटता तथा बढ़ता है । बार बार मनुष्य मांगता है और इससे लोग बार बार माँगते हैं । बार बार मनुष्य शोक करता तथा शोक का कारण–विषय बनता है ।।४६।। सुख, दुःख, उत्पत्ति मृत्यु, [अथवा भाव अभाव] लाभ हानि, जीना मरना, ये सब को बारी बारी से स्पर्श करते हैं, इस वास्ते बुद्धिमान् न शोक करे न हर्ष करे ।।४७।।

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद्यद्वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ।। ४८ ।।

ये छह इन्द्रियां सचमुच चंचल है, इनकी जिस जिस में जो जो वृद्धि होती है, वहाँ वहाँ से इसकी बुद्धि नित्य चूने लगाती है, जिस प्रकार छिद्र वाले जलघट से जल चूता है ॥४८॥

धृतराष्ट्र उवाच = धृतराष्ट्र बोला—

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ४९ ॥
नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत्तत्पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ! ॥ ५० ॥

काष्ठ रूपी शरीर में रुके हुए अग्नि के समान राजा युधिष्ठिर के साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है, अतः वह युद्ध के द्वारा मेरे मूर्ख पुत्रों का नाश करेगा ॥४९॥ यह सब कुछ नित्य उद्विग्न (बेचैन) करता है, और यह मेरा मन भी नित्य उद्विग्न [सशङ्क=भयभीत] रहता है। हे महामते! मुझे उस पद (स्थान, अवस्था) का ज्ञान कहो, जो अनुद्विग्न=भय रहित हैं, शान्त है।

विदुर उवाच=विदुर बोला —

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ ॥ ५१ ॥
बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

हे अनघ ! न तो विद्या तपसे अन्यत्र, और न ही इन्द्रियनिग्रह से अतिरिक्त, और न ही लोभ त्यागने के विना तेरे लिए शान्ति देखता हूं ॥५१॥क्योंकि मनुष्य बुद्धि के द्वारा भय को दूर करता है, तपसे बड़ाई पाता है, गुरु सेवा से ज्ञान तथा योग से शान्ति प्राप्त करता है ॥५२॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ।। ५३ ।।

मोक्ष वाले महात्मा दान पुण्य के फल का आश्रय न करते हुए, वेद-पुण्य के फल का भी आश्रय न करते हुए रागद्वेष से विमुक्त होकर इस संसार में विचरते हैं ।।

[मोक्षाभिलाषी महात्मा दानपुण्य करते हैं, वेद का पठन पाठन भी करते हैं, किन्तु किसी फल की कामना से नहीं, प्रत्युत कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर करते हैं । वे दानपुण्य एवं ज्ञान दान के समय शत्रु मित्र को एक समान मानते हैं, इससे उनके रागद्वेष कषायों का क्षय होता है ।]

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ।। ५४ ।।

उत्तम अध्ययन, धर्म युद्ध, उत्तम कर्म तथा सुतप्त तप के अन्तमें समाप्ति में मनुष्य का सुख बढ़ता है ।

[टीकाकारों ने 'अन्त' का अर्थ यहाँ नाश किया है, जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से अप्रमाण है । पढ़ने आदि के अन्त में, समाप्ति में, पूर्ण हो चुकने पर सुख बढ़ता है, न कि नाश होने पर]

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ।। ५५ ।।
न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ।। ५६ ।।

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किञ्चिदन्यद्विनाशात् ॥ ५७ ॥

उत्तम रीति से बिछाए हुए बिछौने पर पड़े हुए, भेदबुद्धि वाले मनुष्य कभी भी निद्रा प्राप्त नहीं कर पाते। हे राजन्! वे लोग न तो स्त्रियों में रति को प्राप्त करते हैं, और न ही सूतमागधों से स्तुति प्राप्त कर सुख प्राप्त करते हैं ॥५५॥ भिन्न—परस्पर फूटे हुए मनुष्य कभी भी धर्म्म का आचरण नहीं कर पाते, न ही वे आपस में फूटे हुए इस संसार में सुख पाते हैं। न ही भिन्न जन गौरव को प्राप्त करते हैं, और न ही भिन्नों को उत्कृष्ट शान्ति पसन्द आती है ॥५६॥ उनको हितकारी वचन अच्छा नहीं लगता, उनको योगक्षेम भी सफल नहीं होता। हे मनुजेन्द्र! भिन्न की अन्तिम गति विनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥५७॥

[आपसी फूट का पूरा फल संक्षेप में हृदयग्राही शब्दों में विदुर द्वारा वर्णित हुआ है।]

संपन्नं गोषु संभाव्यं संभाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
संभाव्यं चापलं स्त्रीषु संभाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥ ५८ ॥

गौओं के होने पर सम्पत्ति हो सकती है। ब्राह्मण में तप हो सकता है। स्त्रियों में चपलता हो सकती है, और ज्ञाति वालों से भय हो सकता है।

[क्या पुरुषों में चपलता असंभव है?]

तन्तवो ध्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥

बहुतसी, सूक्ष्म, समान तन्तुएं [मेल के द्वारा] पुष्ट की जाकर बहुत होने के कारण बहुत क्लेशों को सहन कर लेती है, यह सज्जनों की उपमा है।

[तात्पर्य्य यह है, कि जैसे सूक्ष्म तारोंका एक पुष्ट रस्सा बहुत भार उठाने में समर्थ होता है। ऐसे ही पाण्डवों को अकेला मत समझो। एक तो उनमें आपस में दृढ़ ऐक्य तथा प्रीति है, दूसरे कृष्ण, व्यास, द्रुपद आदि नीतिनिपुण, ऋषि तथा राजादि उनके साथ हैं। अतः उनको यह कष्ट दूभर नहीं है। इससे उन्हें सज्जन मानना पड़ता है।]

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ! ॥ ६० ॥

हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! अन्य सम्बन्धी तिनकों की भाँति पृथक् पृथक् होकर धुआँ देते हैं, और इकट्ठे होकर जल जाते हैं।

[५९ वें श्लोक में पाण्डवपक्ष का उत्कर्ष और इसमें कौरव-पक्ष का अपकर्ष दिखाया गया है।]

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र ! पतन्ति ते ॥ ६१ ॥

हे धृतराष्ट्र ! जो ब्राह्मणों पर, स्त्रियों पर, सम्बन्धियों पर तथा गौवों पर शूर है, वे ऐसे गिरते हैं जैसे टहनी [डंठल] से पका हुआ फल।

[अर्थात् दुर्योधनादि दुर्बलों पर अपने बल दिखाने के कारण विनाशोन्मुख हो रहे हैं।]

महानप्येकजो वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥
अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान्वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥ ६३ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥
अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च ।
ज्ञातयः संप्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

किसी स्थान में अकेला उगा हुआ, बलवान्, दृढ़ मूलवाला महान् वृक्ष भी वायु द्वारा बलात् तने समेत उखाड़ कर क्षण भर में मसल दिया जाता है ॥६२॥ किन्तु जो वृक्ष इकट्ठे और संघशः=पंक्तियाँ बनाकर दृढ़ मूल किए गए हैं, वे ही एक दूसरे के सहारे से अत्यन्त शीघ्र चलने वाली वायु को भी सह लेते हैं ॥६३॥ इसी भांति गुणों से युक्त होते हुए भी अकेले मनुष्य को विरोधी उखाड़ सकने योग्य मानते हैं, जैसे वायु अकेले वृक्ष को ॥६४॥ एक दूसरे को पुष्ट करने तथा एक दूसरे के सहारे से सबन्धी ऐसे बढ़ते हैं, जैसे तालाब में कमल ॥६५ ॥

अवध्या ब्राह्मणा गावा ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, गौएं, सबन्धी, बच्चे तथा स्त्रियाँ, तथा जिनका अन्न खाए और जो शरणागत हुए हों, वे अवध्य है, हत्या करने योग्य नहीं हैं । ॥६६॥

न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन्सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

हे राजन् ! मनुष्य में सधनता (धनिकता) तथा नीरोगता के बिना कोई गुण नहीं है । क्योंकि रोगी तो मृतक समान होते हैं । हे राजन् ! तेरा कल्याण हो ॥६७॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।

सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज ! पिब प्रशाम्य ।। ६८ ।।

हे महाराज ! बिन व्याधि के उत्पन्न होने वाले, कड़वे, सिरको पीड़ा देने वाले, पापोत्पादक, कठोर, तीखे, गरम मन्यु को (क्रोध को) पी जाओ, यह सज्जनों का पेय है, जिसे असज्जन नहीं पी सकते ।।६८।।

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान्न सौख्यम् ।। ६९ ।।

रोग से पीड़ित मनुष्य फलों का आदर नहीं करते (पसन्द नहीं करते) और नहीं विषयों में सार पाते हैं । रोगी नित्य दुःख युक्त होने हुए न धन-भोग को जानते हैं और न सुख को ।।

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् !
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ।। ७० ।।

हे राजन् ! द्यूतसभा में द्रौपदी को देखकर दुर्योधन को रोक, क्योंकि ज्ञानी लोग जुए का निषेध करते हैं, मेरे इस कथन को पहले तुमने नहीं माना ।।७०।।

न तद्बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री—
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ।। ७१ ।।

वह बल नहीं है, जिसके द्वारा कोमल=दुर्बल का विरोध किया जाए। धर्म्म सूक्ष्म है, उसे वेग से सेवन करना चाहिए। विनाशशालिनी लक्ष्मी क्रूर में पड़ी हुई है, यही मृदुप्रौढ़ होकर पुत्र पौत्रों को प्राप्त होती है ॥७१॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान्पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन्सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान्बालान्वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥७३॥

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै—
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥ ७४ ॥

हे राजन् ! धृतराष्ट्र के पुत्र पाण्डवों की रक्षा करें, और पाण्डु के के पुत्र तेरे पुत्रों की पालना करें। ये कुरु एक ही मित्र और शत्रु वाले हों (जो एक का मित्र वह दूसरे का भी इत्यादि) एक लक्षण वाले होकर सुखी और समृद्ध=फलते फूलते जीवें ॥७२॥ हे आजमीढ—अजमीढ के वंशधर ! तू आज कौरवों का स्तम्भभूत है, कुरु कुल तेरे अधीन है। हे तात। अपने यश की रक्षा करता हुआ तू बनवास से तपाए हुए कुन्ती-पुत्रों–बच्चों की रक्षा कर ॥७३॥ तुम कौरव पाण्डवों से मिल कर रहो, शत्रु तुम में फूट की कामना न करें। हे नरदेव=राजन् ! वे सब सत्य में स्थित हैं। हे नरेन्द्र ! तू दुर्योधन को सत्य में ठहरा ॥७४॥

[ध्यान से देखा जाए तो उदाहृत इतिहास २१ वें श्लोक पर समाप्त है, उसके आगेजो श्लोक हैं, वे सारे पूर्व अध्यायों में कही बातों की पुनरुक्तिमात्र है। कुलीनता—महाकुलता के सम्बन्ध में कई श्लोक अविकल मनुस्मृति से उद्धृत किये है, कईयों में एकाध शब्द या अक्षर का फेरफार किया गया है। ५० वें श्लोक में धृतराष्ट्र ने अनुद्विग्न पद की प्राप्ति का साधन पूछा है, उसका विदुर ने समाधान देने का प्रयत्न किया है; किन्तु धृतराष्ट्र की ओर से इसी पर्व के ४१ वें अध्याय में अध्यात्मतत्त्व विषयक पुनः प्रश्न करने पर ग्रन्थकार ने विदुर से धृतराष्ट्र को सनत्सुजात से समाधान करने की प्रेरणा की। तब वहां ४१।४ में धृतराष्ट्र ने कहा—क्या आप उसका समाधान नहीं जानते ? उसके उत्तर में विदुरसे कहलाया गया है–'शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे' शूद्रयोनि में उत्पन्न हुआ हूं, अतः इससे अधिक कहने का साहस नहीं कर सकता। कोई पूछे तो, आपने इसका ज्ञान कैसे प्राप्त किया। इस पर विचार विदुरनीति द्वितीयभाग में किया जायेगा.]

॥ इति विदुरनीतौ चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

विदुर उवाच—विदुर बोला—

[पिछले अध्याय के १५ वें श्लोक से विदुर का वचन चल रहा है। धृतराष्ट्र के प्रश्न के बिना एक नया प्रसङ्ग उठाना शास्त्र मर्यादा के विरुद्ध प्रतीत होता है!]

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत्।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

हे राजश्रेष्ठ! हे विचित्रवीर्य के पुत्र! स्वायंभुव मनुने इन सत्तरह पुरुषों को मुट्ठियों से आकाश को पीटने वाले कहा है ॥१॥ तथा (इनको) मेघो के समय न झुकने वाले इन्द्रधनुष को झुकाने वाले तथा न पकड़े जाने योग्य सूर्य्य-किरणों को पकड़ने वाले बतलाया है ॥२॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम्।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते वा ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी।

अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ! ॥ ४ ॥
वध्वाऽवहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी
दत्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान्नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

(१) जो अजिज्ञासु को शिक्षा देता है (२) जो मर्य्यादा से अधिक सन्तोष करता है (३) जो [स्वार्थपूर्ति के लिए मर्यादा को लाँघकर] शत्रु की सेवा करता है,(४) जो स्त्रियों की रक्षा करता है और शत्रु सेवा से तथा स्त्री रक्षा से भद्र प्राप्त करना चाहता है, (५) जो अयाच्य (कृपण आदि) से मांगता है, (६) और जो थोड़ा सा करके अपनी प्रशंसा करता है ॥३॥(७)जो कुलीन होकर अकार्य्य(अयोग्य कार्य्य)करता है(८) जो निर्बल होता हुआ भी बलवान् से नित्य वैर रखता है (९) अश्रद्धालु को जो विद्या पढ़ाए,(१०) हे नरेन्द्र ! जो अकाम्य (न चाहने योग्य) की कामना करता है ॥४॥(११) जो ससुर वधू से (पुत्र वधू के साथ) अवहास (गंदे उपहास) को उचित मानता है (१२) जो पुत्र वधू से निर्भय किया जाकर उससे मान की कामना करता है (१३) और जो पराये खेत में बीज बोता है (१४) तथा जो कुसमय में अथवा निर्मर्याद रुप से स्त्री की निन्दा करता है ॥५॥ (१५) जो प्राप्त करके भी यह कहे कि मुझे स्मरण नहीं है, (१६) जों याच्यमान [जिससे माँगा जा रहा है ऐसा] होकर देकर अपनी प्रशंसा करे (१७) जो असज्जनों की

सत्ता को उन्नत करे, अथवा जो झूठों की सत्यता का समर्थन करे, इनको पाशहस्त = मृत्युदूत नरक में ले जाते हैं ॥६॥

[चौथे श्लोक में 'यश्च तुष्येद्...' के स्थान में कहीं कहीं 'यश्च कुप्येद्...' पाठ है, उसका अर्थ है—जो असमय क्रोध करे। पराये खेत में बीज बोने का अर्थ व्यभिचार है। विभिन्न स्थलों में मनुस्मृति में आए उपदेशों का यह सार है।]

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य जिसके प्रति जैसा व्यवहार करे, उसके प्रति वैसा व्यवहार करना चाहिए, यह धर्म है। ठगी से व्यवहार करने वाले के साथ ठगी से व्यवहार करना चाहिए। भला व्यवहार करने वाले के साथ भलाई से व्यवहार करना चाहिए ॥७॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

बुढ़ापा रूप को नष्ट करता है, आशा (अभिलाषा) धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, असूया धर्म्माचरण को, काम लज्जा को, अनार्य्यों का संग चरित्र को, क्रोध शोभा को, और अभिमान सभी को हर लेता है ॥ [कतिपय पदों के विपर्यय के साथ यह श्लोक तीसरे अध्याय की संख्या ५० पर है];

धृतराष्ट्र उवाच = धृतराष्ट्र बोला—

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।

नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

जब सभी वेदों में मनुष्य को शतायु (सौ वर्ष की आयु वाला) कहा गया है, तो किस कारण से मनुष्य इस संसार में उस सम्पूर्ण आयु को प्राप्त नहीं करता है ।

विदुर उवाच=विदुर बोला—

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।

क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ १० ॥

एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।

एतानि मानवान्घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

हे राजन् ! अति अभिमान, अति वाद विवाद, त्याग न करना, क्रोध, अपने ही पालन पोषण की इच्छा और मित्र-द्रोह, ये छह हैं ॥१०॥ ये ही तीक्ष्ण तलवारें प्राणियों की आयुओं को काटती हैं, यही मनुष्यों को मारती है, मृत्यु नहीं । हे राजन् ! तेरा कल्याण हो ॥११॥

[दशम श्लोक के 'अत्यागः' पद के स्थान में कहीं-कहीं 'अत्याशः' पाठ है, उसका अर्थ है—बहुत खाना । अतिभोजन से मृत्यु अनिवार्य है । 'अत्याशः' पद का अन्य एक अर्थ आशा से अधिक चाहना भी है—यह स्थिति व्यक्ति के सुखी जीवन के लिए घातक होती है । 'आत्मविधित्सा के स्थान में 'अनुर्विधित्सो' पाठ है । उसका एक अर्थ है—वैर चुकाना, बदला लेना; और दूसरा उपकार के बदले प्रत्युपकार करना । वाल्मीकि ने कहा—नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति=प्रत्युपकार करने की इच्छा वाला मनुष्य उपकार के लिए विपत्ति की कामना करता है । तभी तो प्रत्युपकार कर सकेगा । ऐसा मनुष्य भी विपत्ति को निमन्त्रण देता है । मनुस्मृति में मृत्यु के ये कारण कहे गये हैं–'अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् । आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ (५।४) वेदाभ्यास के त्यागने, आचार

के छोड़ने, आलस्य तथा अन्नदोष के कारण मृत्यु विप्रों को मारना चाहता है ।। [अन्नदोष वैद्यक तथा धर्मशास्त्र के विपरीत अन्न का सेवन दोषयुक्त है । विप्र का अर्थ होता है—बुद्धिमान् ।]

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।

वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ।। १२ ।।

आदेशकृद्वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।

शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ।।

एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ।। १३ ।।

हे भारत ! जो विश्वस्त की स्त्री से व्यभिचार करता है, जो गुरुपत्नी से भोग करता है, जिसकी स्त्री वृषली=धर्म्मघातिका है, द्विज होकर भी जो शराबी है ।। १२ ।। जो आदेश करने वाला, द्विजों की आजीविका का विनाशक तथा उनका प्रेषक—आज्ञा में चलाने वाला अथवा उनसे दास-कर्म कराने वाला, और जो शरणागत का घातक है, ये सब ब्रह्महत्यारे के समान हैं । इनसे सम्बन्ध त्याग करके प्रायश्चित्त करना चाहिए, ऐसा श्रुति कहती है ।

[आदेशकृत् का एक अर्थ ग्रामणी=ग्राम का मुखिया अथवा समुदाय का नेता है । दूसरा अर्थ है—मान्य मनुष्य पर भी शासन चलाने वाला । तीसरा अर्थ है—किसी पाठ के एक अंश का पाठ करके शेष को पढ़े सुने बिना स्वीकार कर लेने वाला ।। 'समेत्य' का यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ 'मिल करके' है, तथापि प्रकरणानुरोध से 'त्याग करके' ही संगत होता है ।]

गृहीतवाक्यो नयविद्वदान्यः

शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।

नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः

सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ।। १४ ।।

बड़ों की बात मानने वाले अथवा विद्यावान्, नीतिमान् दानी, यज्ञ से बचा अन्न खाने वाला, तथा अहिंसक, अनर्थ न करने वाला, व्याकुल न होने वाला, कृतज्ञ, सच्चा, मृदु विद्वान् स्वर्ग=सुख साधन को प्राप्त करता है।

['गृहीतवाक्यो नयविद्वदान्य:' के स्थान में 'गृहीतवाग्यो-ऽनयविद्धवाक्य:' पाठ की दशा में अर्थ होगा—गृहीतवाक्=मितभाषी तथा बड़ों के वचनों को न बींधने वाला, न उल्लंघन करने वाला। "अनय—" पाठ का अर्थ है—जिसके वचन नीतिविरुद्ध नहीं हैं।]

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१५॥
यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १६ ॥

हे राजन्! निरन्तर प्रिय बोलने वाले पुरुष तो बहुत मिलते हैं, किन्तु कड़वे हितकारी वचन को कहने वाले तथा सुनने वाले दुर्लभ होते हैं ॥ १५ ॥ जो राजा के प्रिय तथा अप्रिय का विचार छोड़ कर, कर्म्म का आश्रय लेकर राजा को हितकारी अप्रिय वचन कहता है, वह राजा का [सच्चा] सहायक है।

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १७ ॥

कुल [की रक्षा] के लिए एक पुरुष को त्याग दे। ग्राम के लिए कुल को छोड़ दे। देश के लिए ग्राम को छोड़ दे, तथा आत्मा [अपने] के लिए पृथिवी तक को छोड़ दे।

['त्यजेत्कुलार्थे...' के स्थान में 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' पाठ होना चाहिए।]

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥१८॥

आपत्ति के लिए धन बचाऐ, स्त्री की धन द्वारा भी [धन व्यय करके भी] रक्षा करे, और अपनी तो धन तथा दारा के द्वारा (धन दारा का विनाश करके भी) रक्षा करे ।

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।

तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ १६ ॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन् !

नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।

तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य

न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥

यह जुआ पुराने समय में भी मनुष्यों का वैरी अनुभव हुआ, अतः बुद्धिमान् मनुष्य हंसी के लिए भी जुआ न खेले॥१६॥ हे प्रातिपेय ! हे राजन् ! द्यूत समय में भी मैंने यह वचन कहा था, किन्तु हे विचित्रवीर्य्य के पुत्र ! रोगी को पथ्य औषध की भांति वह आप को पसन्द नहीं है ।

[प्रातिपेय=प्रतीप के कुल में उत्पन्न । कुरुवंश में प्रतीप एक बहुत बड़ा प्रतापी राजा हुआ है । धृतराष्ट्र को विविध नामों से संबोधन किया जा रहा है । इन सब में रहस्य है । स्थानाभाव के कारण उसका विवरण नहीं करते ।]

काकैरिमांश्चित्रबर्हान्मयूरान्

पराजयेथाः पाण्डवान्धार्तराष्ट्रैः ।

हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान्गूहमानः

प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र! ॥२१॥

स्वसन्तान रूपी कौवों के द्वारा इन विचित्र पंखों वाले मयूरों को तू हराएगा ? हे राजेन्द्र ! सिंहों को मारकर गीदड़ों की रक्षा करता हुआ समय आने पर पछताएगा।

यस्तात न क्रुध्यति सार्वकालं
मृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य।
तस्मिन्भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥ २२ ॥
न मृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम्।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २३ ॥

हे तात ! जो भक्त तथा हित में रत भृत्य पर सदा क्रोध नहीं करता रहता। भृत्य उस पर विश्वास करते हैं और आपत्तियों में उसको नहीं छोड़ते हैं ॥ भृत्यों का वेतन रोक कर नया धन या राज्य लेने की इच्छा न करे। क्योंकि वृत्ति से वञ्चित होकर परिभोग=जीवन साधन से विहीन ये विरुद्ध होकर स्नेह करने वाले अमात्य भी ऐसे स्वामी को छोड़ जाते हैं।

['वञ्चिता वै विरुद्धाः' के स्थान में 'उचितावरुद्धा...' पाठ है। उसका अर्थ है—उचित=न्याययुक्त प्राप्तव्य भी जिन का रोक लिया गया है।]

कृत्यानि पूर्व परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम्।
संगृह्णीयादनुरूपान्सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २४॥

सारे कार्य्यों को पहले गिन करके और आय व्यय के अनुरूप व्यवस्था को विचार करके तदनुरूप सहायकों को संग्रह करे, क्योंकि दुष्कर कार्य्य सहायकों द्वारा ही सिद्ध हुआ करते हैं।

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥२५॥
वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥२६॥

जो भर्त्ता=स्वामी के अभिप्राय को जानकर (समझकर) आलस्य रहित होकर सब कार्य्यों को कर देता है; और जो हितों का कहने वाला, अनुरक्त, आर्य्य=कुलीन, तथा शक्ति का ज्ञाता है, उस पर अपने समान कृपा करनी चाहिए ॥ २५ ॥ आदेश (शिक्षा) देने पर भी जो बात का आदर न करे। आज्ञा किया जाने पर जो उलटा उत्तर दे=सामने बोले, जो अपनी बुद्धि का अभिमान करते वाला तथा प्रतिकूल बोलने वाला हो, ऐसा भृत्य शीघ्रता से ही त्याग देना चाहिए।

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥

इन आठ गुणों से युक्त [मनुष्य] को दूत कहते हैं [नियुक्त करते हैं।] (१) अनहंकार, (२) अनपुंसक, (३) अविलम्बकारी, (४) दयालु,

(५) चिकना, (६) दूसरों से न बहकाया जा सकने वाला, (७) नीरोग कुल में उत्पन्न हुआ सर्वथा नीरोग तथा (८) उदारवाक्य=बात चीत में उदार।

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे

गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।

न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो

न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ।।२८।

बुद्धिमान् मनुष्य विकाल=सायंकाल अथवा बेसमय में विश्वास से कभी दूसरे के घर न जाए। रात्रि में छिपकर चबूतरे पर या आंगन में न बैठे। राजा की अभिलषित स्त्री की कामना न करे।

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।

न च ब्रू यान्नाश्वसिमि त्वयीति

सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ।। २९ ।।

मन्त्रगत=साथी किन्तु शत्रुओं के साथ मिले हुए अतएव कुसंगति वाले का अपलाप=तिरस्कार न करे। और न ही यह कहे, कि मैं तुझ पर विश्वास नहीं करता हूं। हाँ, कारणसहित बहाना करदे।

[जो मनुष्य पहले किसी समय अपनी मन्त्रणाओं में सम्मिलित हुआ करता था, किन्तु शत्रुओं की कुसंगति में फंस गया है। नीतिमान् उसका तिरस्कार न करे। न ही उस पर अविश्वास प्रकट करे, कोई न कोई बहाना बनाकर उससे बचता रहे।

मन्त्रगतस्य के स्थान में 'सत्रगतस्य' पाठ कहीं कहीं है। उसका अर्थ है—कपट वेषधारी। तब निह्नव का अर्थ होगा—विश्वास, स्नेह]

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः

पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।

सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव

व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ।। ३० ।।

व्यवहार=लेन देन के व्यापार में इनका त्याग करे अर्थात् इनके साथ लेन देन न करें—घृणी=अति कृपालु अथवा लज्जालु, राजा, व्यभिचारिणी स्त्री [व्यभिचारी—पुरुष भी,] राजा का नौकर, पुत्र, भाई, व छोटे-छोटे बच्चों वाली विधवा। सेना में नौकरी करने वाला, तथा जिसका ऐश्वर्य नष्ट हो चुका है।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति

प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।

पराक्रमश्चाबहुभाषिता च

दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।। ३१ ।।

एतान्गुणांस्तात महानुभावा—

नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।

राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं

सर्वान्गुणानेष गुणो विभर्ति ।। ३२ ।।

आठ गुण मनुष्य को चमकाते हैं—(१) बुद्धि (२) कुलीनता (३) ज्ञान (४) जितेन्द्रियता, (५) पराक्रम (६) मितभाषिता, (७) यथाशक्ति दान तथा (८) कृतज्ञता ।।३१।। हे तात ! इन तेजस्वी गुणों पर एक गुण बरबस अधिकार कर लेता है, जब राजा ऐसे मनुष्य का सत्कार करता है, तब यह गुण (राजा द्वारा सत्कार) सब गुणों की पुष्टि करता है।

[यह ३१ वाँ श्लोक पहले भी (१।६६) आ चुका है। और ये दोनों ३१ वां, ३२ वाँ तीसरे अध्याय में भी (५२, ५३) आ चुके हैं।]

स्नान-माहात्म्य-

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते

बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ।। ३३ ।।

दश गुण स्नानशील का सेवन करते हैं—(१) बल (२) रूप (३) स्वरशुद्धि (४) रंग की शुद्धि (५) स्पर्श=कोमल स्पर्श (६) गंध=सुगंध, (७) विशुद्धता=स्वच्छता (८) श्री=शोभा (९) सुकुमारता तथा (१०) उत्तम नारियाँ ।

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ।। ३४ ।।

छह गुण मितभोजी का सेवन करते हैं—(१) आरोग्य=रोगरहित होना (२) आयु=दीर्घआयु (३) बल (४) सुख (५) और इसका सन्तान नीरोग होता है, और (६) यह बहुत खाने वाला पेटू है, ऐसा आक्षेप भी उस पर नहीं होता है ।

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेषम्
एतान्गृहे न प्रतिवासयेत ।। ३५ ।।

निठल्ले, पेटू, लोकनिन्दित, बहुत चालाक, नृशंस=मनुष्यता का मान न करने वाले, देशकाल को न पहचानने वाले, भद्दे वेष वाले इन आठों को घर में न बसाये ।

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।

निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नम्

एतान्भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥ ३८ ॥

अत्यन्त पीड़ित होने पर भी इन से न माँगे–(१) कंजूस (२) गाली देने वाले (३) मूर्ख (४) जंगली (५) धूर्त (६) अमान्य=मान्यरहित (७) किसी का मान न करने वाला (८) निष्ठूरी=निर्दय हिंसक (९) वैरी तथा (१०) कृतघ्न ।

['वनौकसम्' के स्थान में 'वराकसंभूतम्' पाठ का अर्थ है—गरीब की सन्तान, असमर्थ की सन्तान ।]

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं

नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।

विसृष्टरागं पटुमानिनं चा—

प्येतान्न सेवेत नराधमान्षट् ॥ ३७ ॥

संश्लिटकर्म्मा=आततायी, दम्भी, अतिप्रमादी, नित्य झूठ बोलने वाले, ढीली भक्ति वाले=शिथिल विश्वास वाले, प्रेम छोड़ चुके हुए और तीव्र मानी=अपने को चालाक मानने वाले, इन छह नराधमों का कभी सेवन न करे ।

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।

अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिध्यतः ॥ ३८ ॥

सचमुच अर्थ=कार्य, धन, सहायसाध्य हैं और सहायक अर्थसाध्य=धनसाध्य हैं । ये दोनों एक दूसरे के अनुबन्धी हैं, एक दूसरे के बिना सिद्ध नहीं हो सकते ।

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा

वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय काञ्चित् ।

स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा

अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ३९ ॥

सन्तान को उत्पन्न करके और उनको ऋणरहित करके, और उनके लिए किसी आजीविका का प्रबन्ध भी करके, सब कन्याओं को यथायोग्य स्थान में ठिकाने लगाकर (योग्य वर के साथ विवाह आदि करके) गृहस्थ तब वानप्रस्थ होकर मुनि होने की इच्छा करे।

हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।

तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

जो सब प्राणियों के लिए हितकर और अपने लिए भी सुखकारी है, उसे मनुष्य करे, क्योंकि सब कार्य्यों की सिद्धि के लिए ईश्वर द्वारा फल देने में यही हेतु जा बनता है।

[अर्थात् स्वपरहितकारी कार्य्य ही परमात्मा को उन कार्यों के करने वालों के सब कार्य्यों की सिद्धि के लिए प्रेरक बनते हैं। विचित्ररीति से कर्म्म की प्रधानता कही है।]

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।

व्यवसायश्च यस्य स्यात्तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥ ४१ ॥

वृद्धि=उत्तरोत्तर वृद्धि, प्रभाव तथा तेज, सत्त्व=शक्ति, उत्थान=उद्योग, उन्नति और व्यवसाय=निश्चयात्मिका बुद्धि जिसके हों, उसको अभाव का भय कहाँ से ?

पश्य दोषान्पाण्डवैर्विग्रहे त्वं

यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।

पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो

यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यंगिवापतन्खे ॥ ४३ ॥

पाण्डवों के साथ युद्ध से होने वाले दोषों को तू देख। जिसमें इन्द्र-समेत देव भी विचलित हो सकते हैं। पुत्रों के साथ निन्य वैर, बेचैनी से रहना, यश का नाश तथा शत्रुओं की प्रसन्नता ॥४२॥ भीष्म का, तथा हे इन्द्रसमान धृतराष्ट्र! द्रोण का, तथा राजा युधिष्ठिर का बढ़ा हुआ कोप इन सब लोकों को ऐसे नष्ट कर सकता है, जैसे तिरछा गिरता हुआ उल्कापात।

[वादिराज ने ४३ वें श्लोक पर ही टीका समाप्त कर दी है। प्रतीत होता है, उसके समय यह अध्याय यहाँ तक था, आगे नहीं बढ़ा था। श्वेत-ग्रह का अर्थ उल्कापात है। आकाश से टूटता हुआ सा प्रतीत होने वाला तारा उल्कापात=श्वेतग्रह कहलाता है। वह सर्वप्रथम अपने विनाश का कारण बनता है। कौरव पाण्डव का विग्रह भी कुरुकुल तथा देश के विनाश का कारण बन सकता है। जब हम ही न रहे, तब ये लोक रहे या न रहे हमें क्या ? इस भाव से कहा गया है, कि इन सब का कोप इन सब लोकों को नष्ट कर सकता है।]

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः ।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ॥ ४४ ॥

तुम्हारे सौ पुत्र, और कर्ण भी तथा पांच पाण्डव [मिलकर] इस सागराम्बर=समुद्ररूपी वस्त्र वाली (समुद्र से घिरी हुई) संपूर्ण पृथिवी पर राज्य करें।

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः ।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रा नीनशन्वनात्॥४४॥

न स्याद्वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रै र्व्याघ्रान्रक्षति काननम् ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! तेरे पुत्र वन हैं, और पाण्डव बाघ माने जाते हैं। बाघों समेत वन को न काट, बाघ वन से नष्ट न हों ॥ ४५ ॥ बाघों के बिना बन नहीं हो सकता, और वन के बिना बाघ नहीं रह सकते। क्योंकि वन की रक्षा बाघ करते हैं और बन बाघों की रक्षा करता है। [कहीं कहीं 'नीनशन्' के स्थान में 'नीनशः' पाठ है तब अर्थ है—नाश कर।]

न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥४७ ॥

पापी मन वाले दूसरों के भले गुणों को उस प्रकार नहीं जानना चाहते, जिस प्रकार इनकी गुणशून्यता [गुणहीनता] को जानना चाहते हैं।

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥

उत्कृष्ट अर्थसिद्धि को चाहने वाला मनुष्य पहले धर्म्म का आचरण करे, अर्थ धर्म्म से दूर नहीं होता, जिस प्रकार स्वर्ग से अमृत।

['स्वर्ग से अमृत' से लोगों ने विचित्र कल्पना कर डाली है। स्वर्ग नामक एक स्थान विशेष को मानकर उसमें अमृत की कल्पना कीगई है। वास्तव अर्थ है=स्वर्-ग=आनन्द प्राप्त कराने का साधन, अमृत=जीवन से पृथक् कभी नहीं होता। अर्थात् 'जीवन्नरो भद्रशतानि भुंक्ते=जीता मनुष्य सैंकड़ों कल्याणों का भोग करता है। सीधी साधी बात को परोक्ष और क्लिष्ट बना दिया गया है।]

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९ ॥

जिसका आत्मा पाप से हट चुका है और शुभ कर्म में लग चुका है,

उसने इस सब को– जो प्रकृति तथा विकृति है–जान लिया है ।

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते

धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ।। ५० ।।

जो धर्म्म अर्थ तथा काम का यथासमय नियम से सेवन करता है, वह इस लोक तथा परलोक में धर्म्म अर्थ काम के संयोग=प्राप्ति के साधन को प्राप्त करता है ।

सन्नियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।

स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ।।५१

जो हर्ष और शोक के उमड़े हुए वेग को रोक लेता है और आपत्तियों में नहीं घबराता है; हे राजन् ! वही लक्ष्मी का भाजन=पात्र है ।।

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।

यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ।। ५२ ।।

अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।

तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ।। ५३ ।।

यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।

अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ।। ५४ ।।

येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।

यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ।। ५५ ।।

मुझसे मनुष्य के नित्य रहने वाले पाँच प्रकार के बल को समझो । जो तो बाहुबल नामक बल है, वह कनिष्ठ=निकृष्ट बल कहा जाता है ।।५२।। हे भद्र ! अमात्यबल दूसरा बल माना जाता है । बुद्धिमान् लोग धनप्राप्ति को तीसरा बल कहते हैं ।।५३।। और हे राजन् ! जो इसका स्वाभाविक बाप-दादों से आया हुआ बल है, वह अभिजात बल नामक चौथा

माना गया है ॥५४॥ हे भारत जिस बल के द्वारा ये सब बल इकट्ठे किये जाते हैं, और जो बलों में श्रेष्ठ बल है, वह प्रज्ञाबल कहा जाता है।

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य किसी मनुष्य का महान् अपकार कर सकता है, उसके साथ वैर बांधकर 'मैं दूर हूं' ऐसा भरोसा न करें।

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥

स्त्रियों पर, राजाओं पर, साँपों पर, स्वाध्याय के प्रबल विघ्नों पर, (अथवा स्वाध्याय में, अपने स्वामी-मालिकपर, शत्रु पर) भोगों में, आयुओं पर कौन बुद्धिमान् विश्वास कर सकता है ?

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥

बुद्धिरूपी तीर से मारे हुए प्राणी के [जिलाने के] लिए न तो वैद्य हैं, न औषधियां हैं, न होममन्त्र हैं, न ही मंगलकर्म हैं, न ही अथर्वण (संमोहिनीविद्या) मैस्मेरिज्म हिप्नोटिज्म आदि हैं और न ही सुप्रसिद्ध अन्य चिकित्सायें हैं।

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु।

न चोपयुङ्क्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद्दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥६१॥

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥६२॥

हे भारत ! साँप, अग्नि, सिंह, कुलपुत्र=बड़े कुल का बच्चा, अथवा अपने कुल की सन्तान ये सचमुच बहुत तेजस्वी होते हैं; अतः इनकी अवज्ञा =अपमान नहीं करना चाहिए ॥५९। अग्नि महान् तेज है, जो लकड़ियों में छिपा रहता है, वह उस लकड़ी का उपयोग नहीं करता, नहीं खाता, जब तक दूसरों से मथन करके दीप्त नहीं किया जाता ॥६०॥ वही जब लकड़ियों से मथ कर प्रदीप्त कर दिया जाता है, तब वह उस लकड़ी वन तथा अन्य सबको अपने तेज से शीघ्र भस्म कर देता है ॥६१॥ इसी भांति कुल में उत्पन्न हुए अग्निसमान तेजस्वी क्षमाशील, निराकार (जिसके बाह्याकार से भीतर का पता न लगाया जा सके) ये काष्ठ में अग्नि के समान निश्चेष्ट छिपे पड़े रहते हैं।

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥६३॥

तू पुत्रों समेत लता स्वभाव वाला है, पाण्डुपुत्र शाल (साल वृक्ष के समान आधार) समझे जाते हैं। महावृक्ष का आश्रय लिए बिना लता कभी नहीं बढ़ सकती ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥६४॥

हे अम्बिकासुत ! राजन् ! तेरा पुत्र वन है, हे तात ! पाण्डवों को वन में सिंह जान। सिंहों के बिना वन नष्ट हो सकता है और सिंह वन के बिना नष्ट हो सकते हैं।

[यह चौंसठवां श्लोक ४५वें ४६वें का पुनरुक्त है, अतः व्यर्थ है। नील-कण्ठ के अतिरिक्त किसी प्राचीन टीकाकार ने इसकी टीका भी नहीं की।]

इति विदुरनीतौ पञ्चमोऽध्यायः।
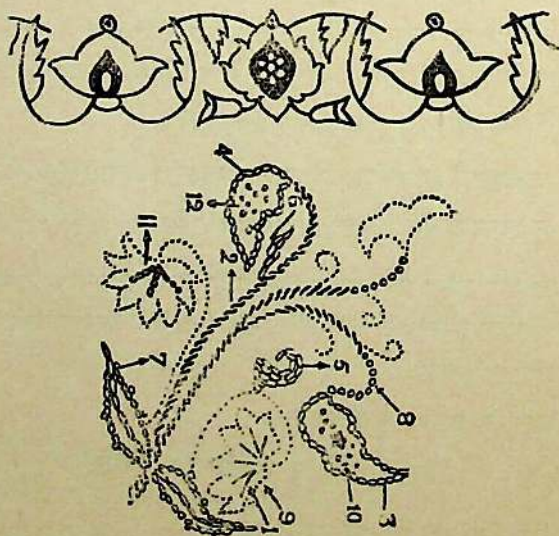
अथ षष्ठोऽध्यायः

विदुर उवाच=विदुर बोला।

[पिछले अध्याय में धृतराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर में विदुर का प्रतिवचन चल रहा है, अतः यहाँ पुनः 'विदुर उवाच' लिखना असंगत है। अथवा पिछले अध्याय को समाप्त ही न किया जाता। वस्तुस्थिति यह है कि जब किसी भांति यह वाद प्रचलित हो गया, कि महाभारत में एक लाख श्लोक हैं, तथा इतने अध्याय हैं, तो येन केन प्रकारेण उसकी पूर्ति उन लोगों द्वारा की जाने लगी, जिनमें योग्यता तो थी, किन्तु यह भरोसा नहीं था कि लोग उनकी बात पर विश्वास करेंगे। उन लोगों ने श्लोक बना बना कर महाभारत आदि ग्रन्थों में डालने आरम्भ किए।]

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥

बूढ़े के आने पर युवक के प्राण सचमुच ऊपर को निकलने लगते हैं। प्रत्युत्थान [स्वागतसत्कार के लिए उठ खड़ा होना] तथा अभिवाद=नमस्कार से वह उनको पुनः प्राप्त करता है ॥१॥ अभ्यागत साधु को (आए हुए सज्जन को) आसन देकर, जल लाकर उसके चरण धुलाकर, कुशल मंगल पूछकर, अपनी स्थिति (अपना कुशल) जतलाकर उसके पश्चात् बुद्धि

मान् मनुष्य विचार कर अन्न (भोजन) देवे ॥

[पहला श्लोक मनुस्मृति (२।१२०) का है। उपदेश अतीव युक्त है, किन्तु प्रसंग संगति नहीं बनती। इससे पूर्वाध्याय के अन्तिम श्लोकों में बुद्धि-माहात्म्य का वर्णन कर कौरव पाण्डवों को मिला देने का उपदेश है। यहाँ एकदम सत्कार की बात चला दी है।]

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित्प्रतिगृह्णाति गेहे।
लोभाद्भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥

वेदज्ञ मनुष्य जिसके घर में जल, मधुपर्क और वाणी गृहपति की लोभवृत्ति अथवा भय से [देने से, धनिकता की प्रसिद्धि होने से राजादि से भय की भावना के कारण] अथवा कृपणता के कारण स्वीकार [प्राप्त] नहीं कर पाता, आर्य्य उसके जीने को व्यर्थ कहते हैं।

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥

चिकित्सक, (स्वार्थी—पैसा बटोरने वाला) शल्यकर्त्ता=तीर बनाने वाला अथवा चीरफाड़ करने वाले [अथवा चीरफाड़ करने वाला चिकित्सक] व्रतभ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भघातक अथवा वेद-घातक, सेना में नौकर, वेद-विक्रेता [धन लेकर वेद पढाने वाला] ऐसा अतिथि अत्यन्त प्रिय होता हुआ भी जल का अधिकारी नहीं है।

[क्यों? क्योंकि इनमें दुःखी की सेवा व कर्त्तव्यपालन की भावना

नहीं होती । अर्थात् इनका यथेष्ट आदर सत्कार नहीं करना चाहिये । यह अत्यन्त उचित ही है।]

अविक्रेयं लवणं पक्वमन्नं दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥ ५ ॥

लवण, पक्वान्न (पका अन्न, रोटी, पूरी आदि), दही, दूध, मधु, तेल और घृत तथा तिल, मांस, फलफूल, शाक, लाल वस्त्र, सब प्रकार के गन्ध और गुड़ ये नहीं बेचने चाहियें ।

[किसी समय इन पदार्थों की इतनी प्रचुरता थी, कि इनका बेचना पाप माना जाने लगा । माँस का बेचना तो घोर पाप है, क्योंकि इसके मूल में हिंसा है।]

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकांचनः
प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो
धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ ७ ॥

जो क्रोध नहीं करता है, जो ढेले, पत्थर तथा सुवर्ण को एक समान मानता है, शोकरहित, मेल तथा झगड़े से रहित, निन्दा प्रशंसा से उपरत, प्रि य और अप्रिय को त्यागने वाला यह संन्यासी उदासीन की भाँति है ॥६॥

नीवार [जंगली] धानी, मूल, इंगुद [हिंगोट,] एक प्रकार का वृक्ष, जिसके तेल से वनस्थ दीपक जलाया करते थे] और शाक पर निर्वाह करने वाला, अत्यन्त जितेन्द्रिय, अग्निकार्य्यों में तत्पर, अतिथि के प्रति सावधान, ऐसा वनवासी, पुण्यकारी धुरन्धर तपस्वी है ।।

[कहीं-कहीं 'अग्निकार्य्येष्वचोद्यः पाठ है । उसका अर्थ है–अग्निकार्य्यों में किसी की प्रेरणा के बिना प्रवृत्त होने वाला । कहीं-कहीं 'अग्निकार्य्येष्व-शोध्यः' पाठ है । उसका अर्थ है, अग्नि कार्य्य करता है या नहीं, इसकी जांच करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह प्रमाद के बिना इन कार्य्यों को करता है ।]

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ।। ८ ।।

बुद्धिमान् का अपकार करके 'मैं दूर हूं' ऐसा भरोसा न करे । क्योंकि बुद्धिमान् की भुजायें लम्बी होती हैं । हिंसित=ताडित (चोट खाया हुआ) मनुष्य उनके द्वारा अपकारी को मारता है ।

[गत अध्याय के ५६ वें श्लोक में भी यही बात कही गई है]

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ।। ६ ।।

अविश्वस्त पर विश्वास न करे, विश्वस्त पर अतिमात्र विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास से उत्पन्न हुआ भय जड़ों को भी काट देता है ।।

[यह श्लोक पहले आ चुका है, अब ये उत्तम उपदेश होते हुए भी असंलग्न से चल पड़े हैं ।]

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक्स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ।।१०।।

ईर्ष्या न करने वाला (अपनी स्त्री को दूसरे से देखे जाने पर न खिजने वाला), अपनी स्त्री को सुरक्षित रखने वाला, सब का आदर करने वाला, प्रियभाषी, मृदु, मधुरभाषी मनुष्य इन स्त्रियों के वश में न होवे।

[श्रोता के अनुकूल बोलने वाला प्रियंवद =प्रियभाषी है। और जिस की वाणी में मिठास हो, वह मधुरवाक् = मधुरभाषी होता है। इन सब गुणों के होते हुए मनुष्य को जितेन्द्रिय भी अवश्य होना चाहिए।]

पूजनीया महाभागा पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ॥११॥

स्त्रियां पूजनीय, महाभाग, पवित्र तथा घर की दीप्ति =रौनक, तथा घर की लक्ष्मी मानी जाती है। अतः इनकी रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए।

[मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में = स्त्रियों के सम्बन्ध में वर्णित उदात्त भावों का यह अनुवाद है, और यही वैदिक सिद्धान्त है। अतः इसके विपरीत जहाँ कहीं भी स्त्री निन्दा उपलब्ध होती है, वह वेदशास्त्र विरुद्ध होने से अनर्गल है।]

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम्।
गोषु चात्मसमं दद्यात्स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥१२॥

अन्तःपुर से [जहां स्त्रियां रहती हैं वह घर का स्थान, अर्थात् स्त्री बच्चे आदि] पिता के अधीन रखे। रसोई घर माता के अधीन रखे। गौ आदि को अपने समान [अर्थात् पुत्रादि] के अधीन रखे। कृषि को स्वयं जाए। अपने आप देखभाल करे।

भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान्।
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥१३॥

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।

नौकरों के द्वारा वाणिज्यव्यवहार करे, पुत्रों से ब्राह्मणों की सेवा कराए । जल से अग्नि को [शान्त करे), ब्राह्मण के द्वारा क्षत्र को तथा पत्थर से उत्पन्न लोहे को पत्थर (कारण) से शान्त करे ।।१३।। उनका सर्वत्र फैला तेज अपने ही कारणों में जाकर शान्त हुआ करता है ।

नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।।१४।।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।

अपने कुल में उत्पन्न हुए सज्जन, अग्नि के समान तेजस्वी होते हैं, क्षमाशील तथा निराकार (जिनके आधार से उनके हृदयगत भाव नहीं जाने जा सकते), ऐसे ये काष्ठ में अग्नि के समान निश्चेष्ट छिपे पड़े रहते हैं ।

[अर्थात् कब भड़क उठें, यह ज्ञात नहीं हो पाता । यह पिछले अध्याय का ६२ वां श्लोक है, वहां 'नित्य' के स्थान में 'एवमेव' पाठ है ।]

यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ।।१५।।
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।
करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ।। १६ ।।
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।
गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।। १७ ।।
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।
नासुहृत्परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ।। १८ ।।
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।
नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात्सचिवमात्मनः ।। १९ ।।

अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

जिसके मन्त्र (मन्त्रणा, गुप्त विचार) को वहिरंग तथा अन्तरंग लोग नहीं जानते हैं। वह सर्वतश्चक्षु (सब ओर दृष्टि रखने वाला, सब ओर से सावधान) राजा चिरकाल तक ऐश्वर्य्य भोगता है। भविष्य में कार्य करने की इच्छा को प्रकट न करे, किन्तु किए हुओं को ही जो दिखाए, उसके धर्म, काम तथा अर्थ सम्बन्धी कार्य तथा मन्त्र कभी नहीं बिगड़ते। पर्वत की चोटी पर चढ़कर, अथवा महल पर चढ़कर, अथवा तृणादि-वृक्षादि से रहित निर्जन वन में रहस्यगत मन्त्र कहा जाता है। हे भारत! परम मन्त्र को असुहृत्=अमित्र जानने का अधिकारी नहीं है, तथा अपण्डित सुहृत् भी, और पण्डित होता हुआ भी जो आत्मगौरव (Self-respect) से शून्य है। राजा जांचे बिना किसी को मन्त्री न बनाए, क्योंकि धनलिप्सा तथा मन्त्ररक्षा मन्त्री के अधीन होती है॥ हो चुकने पर जिसके धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी कार्य्यों को परिषद्=सभासद (Cabinet Ministers) जानें, वह राजा सर्वोत्कृष्ट राजा है। उस सुरक्षित मन्त्र वाले राजा को निस्सन्देह [सब कार्य्यों में] सिद्धि होती है।

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥
कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥

जो मोहवश निन्दित कार्य्यों को करता है, वह उनके बिगड़ जाने से

जीवनभ्रष्ट=नष्ट हो जाता है ।।२३।। प्रशस्त कर्म्मों का अनुष्ठान सुखदायी होता है। उनका न करना पश्चात्ताप कराने वाला माना गया है।

अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।। २४ ।।

जिस प्रकार वेद न पढ़ा हुआ ब्राह्मण श्राद्ध [श्रद्धायुक्त सेवा-सत्कार] का अधिकारी नहीं है। ऐसे ही जिसे षाड्गुण्य का ज्ञान नहीं है, उसे मन्त्रणा सुनने का अधिकार नहीं है।

[षाड्गुण्य की व्याख्या पीछे कीजाचुकी है। श्राद्ध का अर्थ श्रद्धायुक्त कर्म दान दक्षिणादि समझना चाहिये]

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ! ।। २५ ।।
अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्वान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ।। २६ ।।

हे नृप ! स्थान (यथावस्थित रहना), वृद्धि (बढ़ना) तथा क्षय रोग (दुर्बल होना) को जानने वाले, षाड्गुण्य द्वारा जिसने अपना स्वरूप=बलादि जान लिया है; तथा अतिरस्कृत=संमाननीय शील वाले के पृथिवी सदा अधीन रहती है ।।२५।। जिसके क्रोध तथा प्रसन्नता निष्फल नहीं हैं, स्वयं करके भी पीछे जाँच करने वाले, जिसको अपने कोष का साक्षात् ज्ञान है, पृथिवी ऐसे राजा के लिए वसुदा=धनदात्री ही होती है।

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान्नैकः सर्वंचरो भवेत् ।। २७ ।।

राजा नाम मात्र से [राजा कहलवाने से] तथा छत्र (राजछत्र) से

ही सन्तुष्ट रहे। धन भृत्यों [नौकरों तथा प्रजा, भृत्य का अर्थ है पालने योग्य, अतः भृत्य से राज कर्मचारी तथा प्रजा दोनों ही लिए जाने चाहियें] में बाँट दे, अकेला ही सर्वहर न बने।

[आर्य्य राजनीति का यह तत्त्व जहाँ जहां और जब जब विस्मृत कर दिया गया, वहां वहां और तब तब बड़े २ अनर्थ हुए।]

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं यथा।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥

जैसे पति अपनी स्त्री को जानता पहचानता है, वैसे ब्राह्मण ब्राह्मण को, राजा मन्त्री को तथा राजा ही राजा को जानता है ॥

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥ २९ ॥

वश में आए हुए, वध के पात्र शत्रु को नहीं छोड़ना चाहिए। नम्र होकर प्रतीक्षा करे, शक्त होने पर वध्य को मार दे। क्योंकि उस न मारे हुए से शीघ्र भय हो सकता है।

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥

पूजनीय पर, राजाओं पर, ब्राह्मणों पर, बूढ़ों, बच्चों तथा रोगियों पर सदा क्रोध को नियन्त्रित रखना चाहिए [अर्थात् क्रोध न करे]

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम्।
कीर्ति च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य मूर्खों से सेवित निष्प्रयोजन कलह को त्याग देवे,

उससे संसार में यश पाता है, तथा अनर्थ से संयुक्त नहीं होता है।

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥

जिसकी कृपा बेकार है तथा क्रोध भी व्यर्थ है, प्रजा उस राजा को नहीं चाहती, जिस प्रकार नपुंसक पति को स्त्रियें नहीं चाहतीं ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥

न बुद्धि धनप्राप्ति का कारण है और न हीं मूर्खता असमृद्धि=दरिद्रता का हेतु है। बुद्धिमान् ही लोकपर्य्यायवृत्तान्त (भाग्यफल–इहलोक-परलोक एवं जन्म-मरण विषयक स्थिति) को जान पाता है, दूसरा (मूर्ख) नहीं।

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोवमन्यते ॥ ३४ ॥

हे भारत ! मूढ़ मनुष्य विद्यावृद्धों, वयोवृद्धों, बुद्धिवृद्धों, तथा अभिजातवृद्धों=कुलीनवृद्धों का नित्य तिरस्कार करता है।

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥

अनार्य्य चरित्र वाले, मूर्ख, निन्दक=ईर्ष्यालु, अधार्मिक, दुष्टवाणी वाले तथा क्रोधी को शीघ्र ही अनर्थ=संकट प्राप्त होते हैं।

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥ ३६ ॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

अविसंवादन=अपनी बात के विरुद्ध न करना, न ठगना, दान, समय का उल्लंघन न करना तथा सावधानता से कही वाणी [पराङ्मुखों=विरोधियों को भी] अनुकूल बना देती है। दक्ष, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, ऋजु, अविसंवादक मनुष्य अत्यन्त क्षीण कोश वाला होने पर भी परिवारण=भृत्य, सहायकादि को प्राप्त कर ही लेता है।

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।

मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥ ३८ ॥

धृति, शम, दम, शौच, करुणा, मृदुवाणी तथा मित्रों का अद्रोह ये लक्ष्मी की समिधाएँ=चमकाने वाली बढ़ाने वाली हैं।

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः।

तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ३९ ॥

हे राजन्! यथायोग्य न बाँटने वाला अथवा भृत्यादिकों को न देकर खाने वाला, दुष्टात्मा, कृतघ्न, निर्लज्ज, ऐसा राजा त्याज्य होता है॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि।

यः कोपयति निर्दोषं सदोषोभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद्योगक्षेमस्य भारत!।

सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥

जो स्वयं दोषयुक्त होकर निर्दोष अन्तरंग मनुष्य को कुपित करता है। वह सर्पयुक्त मकान में रहने के समान रात्रि को चैन से नहीं सोता है। ४०॥ हे भारत! जिनके बिगड़ जाने पर योगक्षेम का बिगाड़ हो सके, देवताओं की भांति सदा उनकी प्रसन्नता के अनुकूल आचरण करे॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च।

ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ।। ४३ ।।

जो कार्य्य स्त्रियों पर, प्रमादियों तथा पतितों पर लगाए गए हैं, और जो अनार्य्य पर लगाए गए हैं, (पूरा करने के लिये सौंपे गये हैं) वे सब संदिग्ध हो जाते हैं।।४२।। जिन कार्य्यों में स्त्री, जुआरी, और बालक अनुशास्ता=व्यवस्थापक हों, वे सव विवश होकर ऐसे डूबते हैं, जैसे नदी में पत्थर की नौकाएँ ।।

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ! ।
तानहं पण्डितान्मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ।। ४४ ।।

हे भारत ! जो विशेष=असाधारण प्रयोजनों=स्वार्थों में आसक्त नहीं हैं, उनको मैं पण्डित मानता हूं, क्योंकि ऐसे स्वार्थ सदा फंसावट संघर्ष के हेतु होते हैं ।। अथवा विशेष छोटे-मोटे स्वार्थ तो प्रसग से ही सिद्ध हो जाते हैं ।

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ।। ४५ ।।

जिसकी जुआरी प्रशंसा करें, जिनकी चारण=भाट प्रशंसा करें, जिन की वेश्यायें प्रशंसा करें, वह अधिक नहीं जीता है ।

हित्वा तान्परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ।। ४६ ।।
तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात्त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ।। ४७ ।।

उन परम धनुर्धर: अमित तेजस्वी पाण्डवों को छोड़ कर, हे भारत !

तुम ने महान् ऐश्वर्य्य=राज्यभार दुर्योधन पर डाला है ॥४६॥ उससे तुम शीघ्र ही उस राज्यमद मत्त को ऐसे परिभ्रष्ट=राज्य-च्युत देखोगे, जैसे बलि त्रिलोकी से परिभ्रष्ट हुआ था।

[इस अन्तिम श्लोक में वामन-बलि कथा का संकेत किया है। हमारा विचार है, ये अन्तिम दो श्लोक बहुत पश्चात् महाभारत में प्रविष्ट किये गए। एकाध तत्त्व को छोड़कर शेष सब बातें पहले आ चुकी हैं, कुछ शब्दशः और कुछ अर्थशः। मानना चाहिए, इस अध्याय का २७ वां श्लोक सारी विदुरनीति का शिरमौर है।

इति विदुरनीतौ षष्ठोऽध्यायः।

अथ सप्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र बोला=

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद्वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ।। १ ।।

यह मनुष्य समृद्धि तथा असमृद्धि [लाने में] असमर्थ है । जैसे सूत्र में पिरोई हुई लकड़ी की बनी पुतली । विधाता ने तो इसे भाग्य के अधीन किया है । अतः तुम कहो, मैं सुनने मैं धृत-तत्पर हूं ।

[धृतराष्ट्र के इस कथन से प्रतीत होता है, कि उसे अब कुछ भी पूछना शेष नहीं रहा । विदुर की जो इच्छा हो कहे । अतः विदुर के उत्तर भी, स्वच्छन्द हैं ।]

विदुर उवाच=विदुर बोला—

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ! ।। २ ।।
प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मंत्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ।। ३ ।।
द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ।। ४ ।।

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन् !
दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात्पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात्पुत्रशतस्य नाशः ॥५॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥६॥

न स क्षयो महाराज! यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो य लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥७॥

समृद्धा गुणतः केचिद्भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान्गुणैर्हीनान्धृतराष्ट्र ! विवर्जय ॥८॥

हे भारत ! अवसर के प्रतिकूल बात कहने वाला बृहस्पति [महा-विद्वान] भी बुद्धिशून्यता की पदवी तथा तिरस्कार को प्राप्त करता है ॥२॥ कोई दान से प्रिय बनता है, कोई मीठा बोलने से, कोई मन्त्रबल (प्रजादि का बल] से प्रिय बनता है, किन्तु जो [स्वभाव से, किसी स्वार्थ के बिना] प्रिय है, वह तो प्रिय ही रहता है ॥३॥ द्वेष्य मनुष्य न भला लगता है न बुद्धिमान उपकारी लगता है और न ही पण्डित प्रतीत होता है [अथवा सज्जन, उपकारी तथा पण्डित द्वेष करने योग्य नहीं होते] । प्रिय के [अशुभ] कार्य्यं भी शुभ [दीखते हैं], और द्वेष्य के [पुण्य कार्य्य भी] पाप ही [जंचते हैं] ॥४॥ हे राजन् ! मैंने तो दुर्योधन के बालपन में ही कहा था, तू इस एक पुत्र दुर्योधन को त्याग दे। उसके त्यागने से सौ पुत्रों की वृद्धि=मंगल है, और उसके न त्यागने से सौ पुत्रों का नाश है ॥५॥ उस वृद्धि को बड़ा नहीं मानना चाहिए, जो नाश को ले आए। उस क्षय को भी बहुत न मानना चाहिए, जो क्षय वृद्धि को लाए। हे महाराज ! वह क्षय नहीं है, जो वृद्धि को लाए। क्षय तो इस संसार में वह मानना चाहिए, जिसको प्राप्त करके

बहुत नष्ट हो जाए ।।७।। कई गुणों से समृद्ध होते हैं, कई धन से । हे धृत-राष्ट्र ! धन से समृद्धों, किन्तु गुणों से हीनों-को त्याग दे ।।८।।

धृतराष्ट्र उवाच=धृतराष्ट्र बोला—

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ।।९।।

तू सब बात उत्तर काल में वृद्धियुक्त तथा बुद्धिमानों की संमत कहता है कि जिधर धर्म्म होता है उधर ही विजय होती है, तथा मैं पुत्र को त्यागने का साहस नहीं करता ।

विदुर उवाच=विदुर बोला—

अतीव गुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ।।१०।।

अतीव गुण सम्पन्न तथा विनय से युक्त [सुशिक्षित] मनुष्य, प्राणियों के अत्यन्त सूक्ष्म उपमर्द=पीड़ा की भी उपेक्षा नहीं करता है ।।१०।।

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ।।११।।
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।
अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम् ।।१२।।
ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ।।१३।।
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ।।१४।।
या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत्सुखम् ।

यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥१५॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति।
तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥१६॥
निशम्य निपुणं बुध्वा विद्वानदूराद्विवर्जयेत्।

जो मनुष्य दूसरों की निन्दा में निरन्तर रत हैं; तथा लगातार उद्योग -दूसरों की दुःख वृद्धियों और अपने आपसी के लिए—यत्न करते हैं ॥११॥ जिनके दर्शन से दोष लगे [अर्थात् बदनामी हो], जिनके साथ रहने में बहुत बड़ा भय हो, जिससे धन लेने में महान दोष हो और देने में भी बड़ा भय हो ॥१२॥ जो भेदनशील=स्वभाव से झगड़ालू=फूट डालने वाले, स्वार्थी, निर्लज्ज और शठ हों, जो पापी करके प्रसिद्ध और साथ रहने में गर्हित हों ॥१३॥ और जो नर अन्य महादोषों से युक्त हों ; उनका त्याग कर दे। क्योंकि सौहार्द के हट जाने पर नीच की प्रीति नष्ट हो जाती है ॥१४॥ और जो मैत्री में फल प्राप्ति तथा जो सुख है, वह भी नष्ट हो जाता है; क्योंकि वह नीच अपवाद के लिए चेष्टा करता है, तथा [मित्र के] क्षय के लिए प्रयत्न आरम्भ करता है। ॥१५॥ जो थोड़ा सा भी अपकार किया जाने पर मोहवश शान्ति नहीं प्राप्त करता है, ऐसे नीच, नृशंस=मनुष्यता का अपमान करने वाले, असंस्कृतात्मा मनुष्यों के साथ मैत्री [संगति] को, विद्वान बुद्धिपूर्वक भली प्रकार सुन समझकर दूर से त्याग दे ॥१६॥

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥ १७ ॥
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते।
ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ॥ १८ ॥
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात्साधु समाचर।
श्रेयसा योक्ष्यते राजन्! कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥ १९ ॥

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ! ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥२०॥
प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते !
दीयन्तां ग्रामकाः केचित्तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ! ॥२१॥
एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप ! ।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ॥२२॥
मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम् ।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना ।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥२३॥
सम्भोजनं सङ्कथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥२४॥
ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥२५॥
सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान्प्रति मानद ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यति ॥२६॥
श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥२७॥

जो दीन, दरिद्र, रोगी ज्ञाति=सम्बन्धी पर कृपा करता है, वह पुत्र पशुओं की वृद्धि (अर्थात् इस लोक में अभ्युदय) तथा मुक्तिरूप कल्याण को प्राप्त करता है ॥१७॥ जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें अपने सम्बन्धियों की वृद्धि करनी चाहिए। इस वास्ते, हे राजेन्द्र ! कुलवृद्धि का उत्तम अनुष्ठान कर। क्योंकि हे राजेन्द्र ! सम्बन्धियों का सत्कार करता हुआ तू

कल्याण से युक्त होगा ॥१९॥ हे भरतर्षभ! गुणहीन सम्बन्धियों की भी रक्षा करनी चाहिए। और उन गुणियों का तो कहना ही क्या, जो तेरी कृपा के अभिलाषी हैं ॥२०॥ हे विशाम्पते=राजन्! वीर पाँडवों पर कृपा कर। हे समर्थ! उनके निर्वाह के लिए कुछ छोटे-से गाँवड़े दे दीजिए॥२१॥ हे राजन्! ऐसा होने पर भी संसार में तुझे यश प्राप्त होगा। हे तात! तुझ वृद्ध को सचमुच पुत्रों का शासन करना चाहिए ॥२२॥ मुझे भी आप का हित ही कहना चाहिए और आप मुझे अपना हितैषी समझिये। हे तात! कल्याणाभिलाषी को सम्बन्धियों के साथ झगड़ा नहीं करना चाहिए। हे भरतर्षभ! सम्बन्धियों के साथ मिलकर ही सुख भोगने चाहिएँ ॥२३॥ सम्बन्धियों के साथ संभोजन=सहभोज, संकथन=वार्तालाप तथा परस्पर एकरस प्रीति करनी चाहिए, उनके साथ विरोध कभी नहीं करना चाहिए ॥२४॥ इस संसार में सम्बन्धी ही तराते हैं और सम्बन्धी ही डुबाते हैं। सद्व्यवहार प्राप्त सम्बन्धी तराते हैं और दुर्व्यवहार प्राप्त डुबाते हैं ॥२५॥ हे मानद राजन्! पाण्डवों के प्रति सुवृत्त=उत्तम व्यवहार करने वाले होओ। उनसे घिरा हुआ तू शत्रुओं से अधर्षणीय (जिसके आगे ढिठाई न की जा सके) हो जाएगा ॥२६॥ श्रीमान्=धनसंपन्न सम्बन्धी को प्राप्त होकर जो संबन्धी दुःखित रहता है; उसके यह पाप=कष्ट वह श्रीमान् सम्बन्धी ऐसे प्राप्त करता है, जिस प्रकार विषाक्तबाण वाले व्याध को मृग प्राप्त करता है।

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति।
तान्वा हतान्सुतान्वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥२८॥
येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत्कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥२९॥
न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात्।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥३०॥

हे नरश्रेष्ठ ! उन पाण्डवों को अथवा उन अपने पुत्रों को मरा सुन कर तुझे पीछे भी पश्चात्ताप होगा ही, अतः उसका विचार कर ॥२८॥ जिस कर्म्म के कारण पीछे खाट पर बैठकर मनुष्य सन्ताप करे। जीवन के अनिश्चित होने के कारण उसे आरम्भ में ही न करे ॥२९॥ भार्गव=पापनाशक योगी के विना (अथवा नीतिशास्त्रकार शुक्राचार्य के विना) कोई अन्य मनुष्य निरपराधी (अथवा अनैतिक आचरण न करने वाला) नहीं रहता। शेष का विचार [अर्थात् जो बीत गया सो बीत गया] तो बुद्धिमानों में ही रहता है ॥३०॥

दुर्योधनेन यद्येतत्पापं तेषु पुरा कृतम् ।
त्वया तत्कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥३१॥
तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥३२॥

यदि दुर्योधन ने पहले ऐसा पाप उनके प्रति किया है, तो हे नरेश्वर! तुझ कुलवृद्ध के द्वारा वह दूर कर देना चाहिए ॥३१॥ उनको तू उनके पद पर प्रतिष्ठित करके संसार [की दृष्टि] में निर्दोष हो जाएगा तथा बुद्धिमानों का पूजनीय बन जाएगा ॥३२॥

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥३३॥
असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सकुशलैरपि ।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥३४॥
पापोदयफलं विद्वान्यो नारभति वर्धते ।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ॥३५॥
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ।

बुद्धिमानों के उत्तम वचनों को जो मनुष्य फलद्वारा विचार करके

कार्य्यों में उद्योग करता है, वह चिरकाल तक यशस्वी बना रहता है ।।३३।। ऐसे अत्यन्त चतुरों से उपदिष्ट ज्ञान भी अशुद्ध होता है, जिन्हें श्रेय वस्तु का ज्ञान नहीं होता, यदि विदित तो हो, पर क्योंकि उन्होंने उसका अनुष्ठान =व्यवहार न किया हो ।।३४।। जो विद्वान् पाप परिणाम वाले कर्म को नहीं करता है, वह बढ़ता है पूर्व किये पाप का विचार किये विना पुन: वैसा व्यवहार करता है ।।३५।। वह मूर्ख अगाध कीचड़ वाली विपत्ति में गिराया जाता है ।

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ।।३६।।

अर्थसन्ततिकामस्तु रक्षेदेतानि नित्यशः ।
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ।।३७।।

दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि
द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृपः ।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ।।३८।।

बुद्धिमान् मनुष्य इन छह को मन्त्रभेद के द्वार [साधन] समझे, अर्थ-विस्तार का अभिलाषी नित्य इनकी रक्षा करे। (१) मद=अहंकार मस्ती (२) स्वप्न=बहुत सोना, असावधानता, (३) अविज्ञान=बेसमझी (४) अपने में होने वाला आकार=अपना इंङ्गित-चेष्टित (५) दुष्ट मन्त्रियों पर विश्वास तथा (६) अकुशल दूत पर विश्वास ।। हे राजन् ! जो इन द्वारों को जानकर सदा संवृत रखता है, बन्द रखता है। त्रिवर्ग [धर्म्म, अर्थ तथा काम] के आचरण में तत्पर वह राजा शत्रुओं को दबाए रखता है ।।

• [३८ वें में 'अविज्ञानम्' के स्थान में कहीं-कहीं 'अवज्ञान' पाठ है। उसका अर्थ है—तिरस्कार, मन्त्रियों का अपमान]

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।।३९।।

शास्त्र को जाने विना, वृद्धों की सेवा किये विना, वृहस्पति समानों से भी धर्म और अर्थ नहीं जाने जा सकते।

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमश्रृण्वति ।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥४०॥

समुद्र में गिरा पदार्थ नष्ट, न सुनने वाले के प्रति कहा वचन नष्ट, आत्मसम्मानरहित में शास्त्र नष्ट, तथा अनग्नि=अग्नि के विना (राख में किया गया) हवन नष्ट होता है।

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥४१॥

बुद्धिमान् मनुष्य विचार से परीक्षा करके, और बार-बार बुद्धि से व्यवहार करके, सुनकर, देखकर तथा जानकर बुद्धिमानों के साथ मैत्री करे॥

अकीर्ति विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥४२॥

विनय अकीर्ति को नाश करता है, पराक्रम अनर्थ को नाश करता है, क्षमा नित्य क्रोध को मारती हैं, आचार अशोभा को मार देता है।

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥४३॥

परिच्छद=भोग्य सामग्री, अथवा ज्ञान, क्षेत्र=जन्मस्थान, वेश्म=घर, परिचर्य्या=सेवा तथा भोजन आच्छादन के द्वारा, हे राजन्! कुल की परीक्षा करे।

[लक्षाभरण टीका में 'परिचर्यया' के स्थान में 'ब्रह्मचर्य्यया' पाठ है। अर्थ हुआ—ब्रह्मचर्य्य के द्वारा वेदाभ्यास के द्वारा]

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥४४॥

निर्मुक्तदेह मनुष्य की भी उपस्थित अभिलाषा का प्रतिवाद नहीं है, और कामनाओं से रक्त का तो कहना ही क्या ?

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४५ ॥

बुद्धिमानों के सत्संगी, वैद्य=वैद्य अथवा वेद द्वारा विचार व्यवहार करने वाले धार्मिक, प्रियदर्शन, मित्रों वाले, उत्तम वाक्यों वाले सुहृद़=मित्र की परिपालना करे ॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लंघयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद्वरः ॥ ४६ ॥

चाहे दुष्कुलीन हो अथवा कुलीन हो, जो मनुष्य मर्यादा को नहीं लांघता है और धर्म्मापेक्षी=धर्म्म की समझ रखकर कार्य्य करने वाला, कोमल और लज्जावान् है, वह सैंकड़ों कुलीनों से उत्तम है।

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७ ॥

जिनका चित्त के साथ चित्त वा गुप्त के साथ गुप्त, प्रज्ञा के साथ प्रज्ञा मेल खाती है, उनकी मैत्री में कभी शिथिलता नहीं आती।

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति ॥ ४८ ॥
अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९ ॥

मूर्ख, कृतघ्न को बुद्धिमान् तिनकों से ढके कूप के समान त्याग दें, उसमें मैत्री नष्ट हो जाती है। अहंकारियों, मूर्खों भयङ्कर साहस करने वालों तथा धर्म्मरहित पुरुषों के साथ ज्ञानी मैत्री न करे।

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ ५० ॥

कृतज्ञ, धार्मिक, सच्चे, उदार, दृढप्रीतिमान्, जितेन्द्रिय, मर्यादा में स्थित, [विपत्ति में भी] न त्यागने वाला मित्र इष्ट होता है।

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्दैवतानपि ॥ ५१ ॥

इन्द्रियों की [विषयों में] अप्रवृत्ति मृत्यु से भी बढ़कर है, किन्तु उनकी अतिमात्र प्रवृत्ति देवों को भी नाश कर सकती है।

[सचमुच इन्द्रियों को रोकना अतीव कठिन कार्य्य है]

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥ ५२ ॥

सब प्राणियों के प्रति मृदुता, ईर्ष्या न करना, क्षमा, धृति और मित्रों का तिरस्कार न करना इनको ज्ञानी आयु बढ़ाने वाले बताते हैं।

अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५३ ॥

जो मनुष्य अपनीतं (कुनीति से नाशित द्रव्य अथवा अविनीत मनुष्य) को सुनीति से अत्यन्त, दृढता, बुद्धिमत्तापूर्वक पुनःसुपथ पर लाना चाहता है, वह वीर पुरुष का व्रत है।

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५४ ॥

उत्तर कालिक वृद्धि में [आने वाले विघ्नों के] प्रतिकारों को जानने वाला, तथा वर्त्तमान में दृढ़ निश्चय वाला, अतीत के विषय में शेष कार्य्य का ज्ञाता मनुष्य अर्थों से विरहित नहीं होता ।

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात्कल्याणमाचरेत् ॥५५॥

मन, वचन, तथा कर्म्म से जिसको बार बार=लगातार सेवता है, वही इसको आकृष्ट कर लेता है, अतः शुभ आचरण करे ॥

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६ ॥

मंगल की प्राप्ति [अथवा शुभ का सम्पर्क] योग [सहयोग] ज्ञान, उत्थान=उद्यम तथा ऋजुता और सज्जनों का पुनः पुनः दर्शन—ये कल्याण करते हैं ।

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान्भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ५७ ॥

अनिर्वेद=शोकाभाव, कार्य्य में तत्परता लक्ष्मी और शुभ प्राप्ति का मूल है । कार्य्य में तत्पर, शोक रहित मनुष्य महान् होता है, तथा मोक्ष प्राप्त करता है ।

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत्पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वथा ॥ ५८ ॥

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान्धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ५९ ॥

हे तात ! इस संसार में इससे बढ़कर श्रीमत्तर=अधिक शोभा वाला

तथा अत्यन्त पथ्य = हितकारी और नहीं माना जाता है जिस प्रकार कि समर्थ का सर्वत्र तथा सर्वदा क्षमा करना है। दुर्बल सबको क्षमा करदे, तथा शक्तिमान् धर्म्म के लिए क्षमा करदे। जिसके लिए अर्थ तथा अनर्थ एक जैसे हैं, उसके लिए क्षमा सदा हितकारिणी है ॥

यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६० ॥

जिस सुख का सेवन करता हुआ धर्म्म तथा अर्थ से हीन नहीं होता, उसका पर्याप्त सेवन करे। मूढ़ों का आचार व्यवहार न करे। [मूर्ख समझा करते हैं, कि सुख का सर्वथा त्याग करने से इष्टसिद्धि हो सकती है।]

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदानेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६१ ॥

दुःखार्त्तों, प्रमादियों, नास्तिकों, अहंकारियों, अजितेन्द्रियों में और जो उत्साह हीन हैं, उनके पास लक्ष्मी नहीं रहती है।

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात्सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६२ ॥

आर्जव=ऋजुता= सरलता से युक्त,आर्जव के कारण लज्जालु मनुष्य को दुर्बल मानते हुए मूर्ख लोग घर्षण करते हैं, दबाने की चेष्टा करते हैं, तिरस्कृत करते हैं।

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६३ ॥
न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणान्कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ॥ ६४ ॥
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ।

अति आर्य्य=अत्यन्त अकुटिल, अति दानी, अतिशूर, असिव्रत करने वाले, और प्रज्ञा का अभिमान करने वाले के पास भय के मारे लक्ष्मी नहीं जाती ।।६४।। यह लक्ष्मी न तो अत्यन्त गुणवानों और न ही सर्वथा निर्गुणों में अनुरक्त होती है । न यह गुणों की कामना करती है, और न यह निर्गुणता से रीझती है ।।६५।। लक्ष्मी पगली है, उन्मत्त गौ के समान वह अन्धी है, अत: यह कहीं ही टिकती है, सर्वत्र नहीं ।

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।। ६५ ।।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ।

वेदों का फल अग्निहोत्र है, ज्ञान का फल शील तथा सदाचार है । स्त्रियों का फल रति तथा पुत्र है । धन का फल दान तथा भोग है ।

[यह भाव पहले भी कहा जा चुका है । अग्निहोत्र का अर्थ है, अग्नि [आग, बिजली, सूर्य आदि] से सिद्ध होने वाला विज्ञानानुष्ठान]

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।। ६६ ।।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ।

अधर्म से कमाए धन के द्वारा अन्त्येष्टि करता है, [तात्पर्य है–मरण पर्यन्त जो अधर्म से धन कमाता रहता है ।] धन की बुरी कमाई के कारण मरने के पश्चात् वह उसका फल नहीं प्राप्त करता ।

[यह श्लोक केवल धन की नेक कमाई पर बल देने के अभिप्राय से उत्तम है । मरने वाला अपने कर्मों का फल पायेगा, उसकी अन्त्येष्टि क्रिया कैसे ही कर दी जाए ।]

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे ।।६७।।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ।

निर्जन वन, वनस्थ दुर्गम स्थानों में, घोर आपत्तियों में,दुर्भिक्षादि

में, उठे हुए शस्त्रों में शक्तिशालियों को भय नहीं होता है।

[अर्जुन मिश्र 'सत्ववतां' के स्थान में 'शेषवतां' पढ़ते हैं। अर्थ है—जिनका जीवन शेष है, उनको……]

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥६८॥

उद्यम, संयम [व्यय पर नियन्त्रण], दक्षता, प्रमादशून्यता, धृति तथा स्मृति, और सोच विचार कर कार्यारम्भ—इनको समृद्धि का मूल समझ।

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम्।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ६९ ॥

तपस्वियों का बल तप है, ब्रह्मवेत्ताओं का बल ब्रह्म है, दुष्टों का बल हिंसा है, गुणवानों का बल क्षमा है।

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७० ॥

ये आठ व्रतनाशक नहीं हैं—जल, कन्दमूल, फल, दूध, हवि=यज्ञ शेष, ब्राह्मण की अनुमति या अनुरोध से खा लेना, गुरु के कथन से खाना तथा औषध।

न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो अपने प्रतिकूल है, वह दूसरे के प्रति न करे। संक्षेप से तो यही धर्म है, शेष तो कामना=सत्कर्म्म करने की इच्छा से प्रवृत्त होता है।

[मनु जी ने भी कहा है, और इससे भी पूर्व आ चुका है—'आत्मनः

प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्=अपने को अच्छा न लगने वाले कार्य को दूसरों के प्रति न करे।

अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्॥ ७२॥

अक्रोध=शान्ति के द्वारा क्रोध को जीते। सज्जनता के द्वारा असज्जनता को जीते। कंजूस को दान के द्वारा जीते, सत्य के द्वारा असत्य को जीते।

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके॥ ७३॥

स्त्रियों, धूर्तों, आलसी, भीरु, क्रोधी, बल के घमण्डी, चोर, कृतघ्न तथा नास्तिक पर विश्वास न करे॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम्॥ ७४॥

बड़ों को नमस्कार करने वाले तथा बड़ों का सत्संग करने वालों के—ये चार बढ़ते हैं—कीर्ति, आयु, यश तथा बल।

अतिक्लेशेन येऽर्था स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः॥ ७५॥

जो अर्थ=धन, कार्य, प्रयोजन, अत्यन्त क्लेश से अथवा धर्म के उल्लंघन से अथवा शत्रु की हत्या से प्राप्त हों, उनमें मन मत लगा अर्थात् उनकी इच्छा मत कर॥

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम्।
निराहाराः प्रजा शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम॥ ७६॥

विद्यारहित मनुष्य शोचनीय है। जिससे सन्तान न हो ऐसा मैथुन शोचनीय है। भूखी प्रजाएँ शोचनीय है, राजा से रहित राष्ट्र भी शोचनीय है।

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।

असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७७ ॥

देहधारियों के लिए मार्ग [चलना] जरा=बुढ़ापा है, पर्वतों के लिए जल जरा है [क्योंकि वह पर्वतों से मिट्टी, रेत आदि को बहा ले जाते हैं] स्त्रियों के लिए असंभोग जरा है, मन के लिए वाग्बाण जरा है।

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७८ ॥

मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम्।

कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ७९ ॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु।

ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८० ॥

अभ्यास न करना वेदों का मल है (अनभ्यासे विषं विद्या=अभ्यास न करने पर विद्या विष हो जाती है) व्रत न करना ब्राह्मण का मल है। पृथिवी का मल वाह्लीक हैं ? वाह्लीक देश के सम्बन्ध में बहुत विवाद है, कोई इसे बलख-बुखारा मानते हैं, कोई झंग-लायलपुर बताते हैं। किसी देश को मल बताना मूर्खता है] पुरुष का मल झूठ है। साध्वी स्त्री का मल कौतूहल हैं [परपुरुष को देख कर आश्चर्य चकित होना कौतूहल है। यह दोष पुरुष में भी हो सकता है] प्रवास स्त्रियों का मल है [पति का लगातार बाहर रहना विप्रवास है] सुवर्ण का मल चांदी तथा चांदी का मल त्रपु=रांगा, रांगा का मल सीसा, मलिनता सीसे का मल है। [सुवर्ण का

मल चांदी से लेकर अन्त तक का लेख किसी महामूढ़ अवैज्ञानिक का है ।

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८१ ॥

स्वप्न=सोये रहने के द्वारा निद्रा को नहीं जीत सकता, काम से स्त्रियों को नहीं जीत सकता। ईंधन से अग्नि को नहीं जीत सकता, पीने से शराब को नहीं जीत सकता। [इनसे तो ये बढ़ते हैं]

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८२ ॥

दान के द्वारा जिसने मित्र को वश कर रखा है, युद्ध में जिसने शत्रु जीत लिए हैं। अन्नपान के द्वारा स्त्री जिसके वश में है, उसका जीवन सफल है।

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ॥ ८३ ॥

हजारों वाले भी जीते हैं और जीते हैं सैंकड़ों वाले भी। हे धृतराष्ट्र! इच्छा को छोड़। किसी प्रकार भी जिया जा सकता है।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥ ८४ ॥

भूमण्डल में जो चावल जौ (अन्न), सोना (धन), पशु तथा स्त्रियाँ हैं, वे सब एक [लालची] के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं, इस बात को जानकर [बुद्धिमान्] मोहित नहीं होता।

राजन्भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर।

समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।। ८५ ।।

हे राजन् ! तुझे फिर कहता हूँ। पुत्रों पर [कौरवों पाण्डवों पर] एक सा व्यवहार कर, यदि अपने पुत्रों तथा पाण्डवों के प्रति तेरी समता बुद्धि है ।।

[प्राय: प्रत्येक अध्याय के अन्त में पाण्डवों को उनका भाग दिलाने पर बल अवश्य दिया गया है। धृतराष्ट्र की चिन्ता का मूल भी यही है।]

।। इति विदुरनीतौ सप्तमोऽध्यायः ।।

———

अथाष्टमोऽध्यायः

विदुर उवाच—विदुर बोला—

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा ।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त—
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ।। १ ।।

सज्जनों से प्रेरित होकर, अनासक्त होकर अथवा विलम्ब न करता हुआ, जो यथाशक्ति कार्य कर देता है, उस सज्जन को शीघ्र यश प्राप्त होता है, क्योंकि प्रसन्न हुए सज्जन सुख देने में समथ होते हैं ।

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः सन्त्यजत्यनपाकृष्ट एव ।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ।। २ ।।

अधर्मयुक्त महान् अर्थ को लगावट के विना जो त्याग देता है, वह महान् दुःखों को त्याग कर ऐसे सुखपूर्वक सोता है, जैसे पुरानी केंचुली को छोड़कर सर्प ।

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम् ।

गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्म

झूठ में बड़ाई [बढ़ चढ़ कर झूठ बोलना], राजा तक चुगली पहुँ-चाना, गुरु की झूठी निन्दा, ये ब्रह्महत्या के समान हैं।

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः ।

अशूश्रूषा त्वरा श्लेषा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ ४ ॥

निन्दा तो एकदम मृत्यु है, अत्युक्ति श्री की हत्या है, सेवा न करना, शीघ्रता तथा अपनी स्तुति, ये विद्या के तीन शत्रु हैं।

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्टिरेव च ।

स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च ॥ ५ ॥

एते वै सप्त दोषाः स्युः

सदा विद्यार्थिनां मताः ।

सुखार्थिनः कुतो विद्या

नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ॥ ६ ॥

सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।

आलस्य, मद, मोह, चपलता, गोष्ठी=गपशप, स्तब्धता, अभिमान, तथा अत्यागिता ये सात विद्यार्थियों के लिए सदा दोष माने गए हैं। सुखा-भिलाषी को विद्या कैसे? विद्यार्थी को सुख कैसे? या तो सुखार्थी विद्या छोड़े या विद्यार्थी सुख छोड़े।

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।

नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥ ७ ॥

अग्नि काठों से तृप्त नहीं होता, समुद्र नदियों से, मृत्यु प्राणियों से, स्त्रियाँ पुरुषों से।

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः

क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता ॥

अपालनं हन्ति पशूंश्च, राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

हे राजन् ! आशा धैर्य्य को मार देती है, मृत्यु समृद्धि को, क्रोध शोभा को, कंजूसी यश को मार देती है। न पालना=असावधानता पशुओं को मार देती है। क्रुद्ध हुआ एक भी ब्राह्मण राष्ट्र को मार देता है।

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

बकरियाँ, कांसी, चांदी, मधु, विष निकालने वाला पक्षी [अर्जुन मिश्र 'मध्वाकर्षः शकुनिः' का अर्थ मीठे बोलों का पक्षी कोकिल अर्थ करते हैं] वेदवेत्ता, अवसन्न=सङ्कटग्रस्त कुलीन बूढ़ा सम्बन्वी, ये सदा ही तेरे घर नियम से रहें।

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी ।
विषमौदुम्बरं शंखः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! मनु ने कहा है कि देव ब्राह्मणों की पूजा तथा अतिथियों के लिए ये पदार्थ घर में सदा रखने चाहिएँ—बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घृत, विष=लोहादि तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र, तांबा, स्वर्णनाभ, शंख=दक्षिणावर्त शंख, गोरोचन तथा अन्न। [पूर्वोक्त श्लोक का विस्तार मात्र है]

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि

पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्यं
सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

हे तात ! यह तुझे सबसे बढ़कर महाविशिष्ट, पुण्य प्राप्ति कराने वाली बात कहता हूं—न काम से, न भय से और न लोभ से जीवन के कारण भी धर्म का कभी त्याग न करे ॥१२॥ क्योंकि धर्म्म नित्य है, सुख दुख तो अनित्य हैं। जीव नित्य है , किन्तु इसका साधन-शरीरादि-अनित्य हैं। अनित्य को छोड़कर नित्य में प्रतिष्ठित हो। तू सन्तोष कर, क्योंकि लाभ सन्तोष के अधीन है।

महाबलान्पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान्नरेन्द्रान्वशमन्तकस्य ॥ १४ ॥

तू महा बलवान्, महातेजस्वी, धनधान्य से पूर्ण पृथिवी का राज्य कर के, राज्यों तथा विपुल भोगों को त्याग कर, मृत्यु के वश में गए राजाओं को देख=विचार।

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ १५ ॥
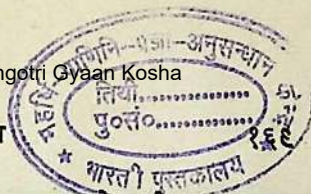
हे राजन् ! मनुष्य दुःख उठाकर पाले हुए पुत्र को मरने पर उठाकर घर से बाहर ले जाते हैं। वाल खोलकर करुण क्रन्दन करते हैं और उसे काष्ठ की भाँति चिता के बीच में धर देते हैं।

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते
वयाँसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामय सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥

मरे हुए का धन कोई और खाता है, पक्षी तथा अग्नि इसके शरीर के धातुओं को खाते हैं। यह दो पुण्य और पाप से लिपटा हुआ परलोक में जाता है।

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान्वृक्षान् तथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥

हे तात ! जैसे पक्षी पुष्परहित तथा फलरहित वृक्षों को छोड़ देते हैं, वैसे ही संवन्धी मित्र, तथा पुत्र इसे छोड़ कर लौट आते हैं।

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥

अग्नि में फेंके हुए पुरुष का, अपना किया हुआ कर्म, अनुगमन करता है; अतः मनुष्य शनैः शनैः यत्न से धर्म का सञ्चय करे।

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत्तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥

इस लोक से ऊपर तथा इस लोक और परलोक के नीचे महान् अन्ध-

कार ही स्थित है, इन्द्रियों के उस महामोहक को समझो। हे राजन् ! तुझे वह अन्धकार न मिले।

इदं वचः शक्ष्यसि चेद्यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति॥ २०॥

इस वचन को सुनकर यदि पूर्ण रूप से समझ सकेगा, तो जीवलोक में उत्तम यश प्राप्त करेगा तथा इस लोक और परलोक में तुझे कोई भय नहीं होगा।

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव॥ २१॥
कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर॥ २२॥

हे भारत ! आत्मा पवित्र तीर्थों वाली नदी है, सत्य उसका उद्गम् है, धृति उसके किनारे हैं। दया लहरें हैं, उसमें स्नान करके पुण्यकर्मा पवित्र हो जाता है, क्योंकि पवित्र आत्मा नित्य लोभरहित होता है। काम, क्रोध रूपी ग्रहों (मगर मच्छ आदि) वाली, पाँच इन्द्रियों रूपी जलवाली नदी को धैर्यमयी नौका बनाकर जन्म सङ्कटों को तर जा।

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित्॥ २३॥
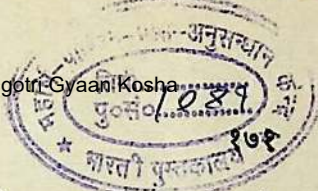
बुद्धि में बड़े, धर्म में बड़े, विद्या में बड़े तथा आयु में भी बड़े अपने बन्धु को पूजकर, प्रसन्न करके कर्त्तव्य के विषय में जो पूछता रहे, वह कभी चूकता नहीं।

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

धैर्य्य से शिश्नोदर की रक्षा करे [अर्थात् खान-पान तथा भोग में अधीर न होवे] हाथ पैर की आंख से रक्षा करे [अर्थात् देख कर हाथ पाँव चलाए।] आंख कान की मन से, और मन वाणी की कर्म्म से रक्षा करे। [अर्थात् आंख कान पर मन का अंकुश रखे, और मन तथा वाणी पर संयम से नियन्त्रण रखे।]

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
सत्यं ब्रुवन्गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥

नित्य जल को पास रखने वाला, नित्य स्नान करने वाला, नित्य यज्ञोपवीत धारण करने वाला, नित्य स्वाध्याय करने वाला, पतित का अन्न न लेने वाला, सत्य बोलने वाला, गुरु के लिए कर्म्म करने वाला, ब्राह्मण ब्रह्मलोक से च्युत नहीं होता; अर्थात् अवश्य मुक्ति पाता है।

अधीत्य वेदान्परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

वेद को पढ़कर और अग्नियों का सब ओर विस्तार करके, यज्ञ करके, प्रजाओं का पालन करके, शास्त्रों से जिसने अपने आत्मा को पवित्र किया है

ऐसा क्षत्रिय गौ (गौ तथा पृथिवी एवं ज्ञान) और ब्राह्मण के निमित्त संग्राम में मारा जाने पर स्वर्ग=स्वर्+ग=मुक्ति के साधन प्राप्त करता है।

वैश्योधीत्य ब्राह्मणान्क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुंक्ते ॥ २७ ॥

वैश्य वेद पढ़ कर उपयुक्त समय पर धन द्वारा ब्राह्मणों, क्षत्रियो तथा स्वाश्रितों का सत्कार करके, त्रेताग्नि [गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, तथा दक्षिणाग्नि] के पवित्र, शुभ धूम को सूँघ कर [अर्थात् यज्ञ करके] मर करके स्वर्ग=आनन्द की स्थिति में दिव्य सुखों को भोगता है।

ब्रह्मक्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप—
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुंक्ते ॥ २८ ॥

शूद्र क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण इनकी युक्ति से सेवा चर्या करता हुआ, इनके प्रसन्न होने पर दग्धपाप हुआ, यह देह त्याग कर स्वर्ग के सुखों को भोगता है।

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।
क्षात्राद्धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ॥ २९ ॥

चारों वर्णों का यह धर्म मैंने तुम्हें कह दिया है, अब उसके पश्चात्

उसके कारण कहता हूं, उसे समझिए। पाण्डुपुत्र, युधिष्ठिर क्षात्र धर्म्म से रहित हो रहा है, [क्योंकि राज्य का अधिकारी होकर राज्यच्युत हो रहा है] हे राजन्! तू उसको राजधर्म में लगा।

एवमेतद्यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथात्थ माम् ॥ ३० ॥
सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान्प्रति मे सदा ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित् ।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

जैसा तू मुझे नित्य उपदेश करता है, यह बात है तो ऐसी, [अर्थात् सत्य है। और हे सौम्य] जैसा तू कहता है, मेरा भी विचार ऐसा ही बनता है ॥३०॥ पाण्डवों के प्रति सदा की हुई भी यह मेरी बुद्धि, दुर्योधन का संग होने पर फिर पलट जाती है ॥३१॥ कोई भी प्राणी भाग्य का उल्लंघन नहीं कर सकता। मैं तो भाग्य को निश्चित मानता हूं, और पुरुषार्थ को तो व्यर्थ समझता हूं ॥३२॥

———

★ इति विदुरप्रजागरः समाप्तः ☆

विरजानन्द वैदिक संस्थान

के कतिपय प्रकाशन

सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव—

ऋषि दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में लिखा है—'सर्व-शक्तिमान परमात्मा की कृपा, सदाशय और आप्त जनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे, जिससे सब लोग सहज में धर्म काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।''

'सत्यार्थप्रकाश' के लिखे जाने के अस्सी वर्ष पश्चात् महर्षि के अनन्य भक्त श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी ने 'सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव' नामक प्रबन्ध लिखा। यह प्रबन्ध एक प्रतिवेदन है, इस बात का—कि गत अस्सी वर्ष में ऋषि दयानन्दानुमोदित ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि-पर्यन्त (जिन्हें प्रबन्ध लेखक ने 'विरजानन्द मुनि पर्यन्त' लिखा है) महाशय महर्षियों के मन्तव्य कहाँ तक सर्वत्र भूगोल में प्रवृत्त पाये जाते हैं।

२०×३० ।१६ आकार की सवा सौ से अधिक पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य—रु०१.५० पै०

सावित्रीप्रकाश—वेद मन्त्रों के मौलिक व्याख्याता श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी द्वारा लिखित गायत्री मन्त्र की व्याख्या इस पुस्तक में प्रस्तुत की गयी है। साथ में उपासना सम्बन्धी अन्य अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन कर दिया गया है। गायत्री मन्त्र के जप की विधि का भी उल्लेख है।२०×३० ।१६ आकार की सौ से अधिक पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल—रु० १.५०

स्वाध्यायसन्दोह—नित्य पाठ करने योग्य ३६७ विषयों के ३६७ वेद मन्त्रों की सरल सुबोध एवं भावपूर्ण व्याख्या इस ग्रन्थ में दी गयी है।

यह व्याख्या वेदों के मर्मज्ञ विद्वान् श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी ने लिखी है इसके आधार पर प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति धार्मिक प्रसंगों में प्रभावशाली एवं आकर्षक प्रवचन के लिए सहयोग प्राप्तकर सकता है। स्वयं अध्ययन से आध्यात्मिक उदात्त भावना जागृत होती है। २०×३०।८ आकार की छह सौ से अधिक पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल—१०) रु०।

स्वाध्याय—यह पुस्तक आर्यसमाज के कतिपय मूर्द्धन्य विद्वानों के लेखों का संग्रह है। वेद में देवता का स्वरूप, वेद परिणाम या वेदों की इयत्ता, पुनरुक्त-मन्त्र विचार आदि विषयों पर वैदुष्य एवं अनुसंधानपूर्ण लख हैं। पाठक को इनसे अनेक जानकारी प्राप्त होंगी। २०×३०।१६ आकार की पौने दो सौ से अधिक पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल—१)रु०

बृहद्यज्ञपद्धति—आजकल बड़े बड़े यज्ञों का विशेषकर चारों वेदों अथवा किसी एक वेद के सम्पूर्ण मन्त्रों से किये जाने वाले यज्ञों का चलन बल पकड़ रहा है। किन्तु अभी तक इन यज्ञों के लिए किसी एक व्यवस्थित पद्धति का अभाव रहा। अनेक यज्ञ प्रेमी महानुभावों के निवेदन पर श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी ने इस यज्ञपद्धति का निर्माण किया है। अब अनेक यज्ञ भक्त सज्जन इसी के अनुसार यज्ञ करते कराते हैं। इस पद्धति में यह यत्न किया गया है, कि यज्ञानुष्ठान के समय सब विधि कार्य वेद मन्त्रों द्वारा किया जाये। यह एक प्रकार के श्रौत यज्ञ की पद्धति है। मूल्य ५० न० पै०

वेदपरिचय—इस लघु पुस्तिका द्वारा श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी महाराज ने वेद सम्बन्धी अनेक (पाश्चात्यों का वेद और उसका कारण, वेद का आकर्षण, वेदोत्पत्ति प्रकार, ज्ञान का आरम्भ, भाषा की उत्पत्ति, वैदिक भाषा सबसे पुरानी, ब्राह्मण वेद नहीं, शाखा वेद नहीं, इत्यादि) विषयों पर विद्वत्तापूर्ण प्रामाणिक विचार प्रस्तुत किए हैं।

मूल्य ५० न० पैसे।

जीवन की भूलें—श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजी का स्वलिखित जीवन चरित्र, जीवन की अनेक अद्भुत घटना ओजपूर्ण भाषा में अङ्कित की गई हैं।

मूल्य ५० नये पैसे।

आर्यसमाज और राजनीति – प्रवक्ता श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजी

मल्य २० नये पैसे

सन्ध्यालोक— लेखक=श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ, सन्ध्या की संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त उत्तम व्याख्या। सन्ध्या विषयक अन्य अनेक आवश्यक ज्ञातव्य विषयों से युक्त। मूल्य रुपए १ ५० पैसे।

ब्रह्मोद्योपनिषत्—यह श्री स्वामी वेदानन्दजी की अपूर्व रचना है। इसमें यजुर्वेद के अन्तर्गत कतिपय प्रश्न और वहीं पठित उत्तरों को लेकर उनकी वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। पुस्तक को पढ़कर विचारशील पाठक स्वयं इस रचना की विशेषता को जान सकेगा।

मूल्य १.५० पैसे

योगोपनिषत् – प्रथम रचना के समान इसमें योग विषयक कतिपय मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके साथ उपयुक्त योगविधि का निर्देश है।

मूल्य ०.८० पैसे

अध्यक्ष—

विरजानन्द वैदिक संस्थान,

गाजियाबाद, (मेरठ) उ०प्र०

मुद्रक—शर्मा प्रिंटिंग वर्क्स, ४/६० सरवरिया मार्केट, विश्वास नगर, शाहदरा दिल्ली-32